सहजानंद शास्त्रमाला

सुख कहाँ

भाग-1

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्रीसहजानन्द शास्त्रमाला

सुख कहाँ

रचियता :
अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ गुरुवर्य्य पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक
मनोहर जी वर्णी, 'सहजानन्द'' महाराज

संकलनकर्त्ता व सम्पादक :
डा० मूलचन्द जी जैन एम. ए. पी-एच. डी.
मुजफ्फरनगर

प्रकाशक :
खेमचन्द जैन सर्राफ
मन्त्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

2000–2001

~~मूल्य 20~~

शास्त्रमाला मेरठ
10/

परमात्म-आरती

ॐ जय जय अविकारी।

जय जय अविकारी, स्वामी जय जय अविकारी।
हितकारी भयहारी, शाश्वत स्वविहारी ॐ····॥टेक॥

काम क्रोध मद लोभ न माया, समरस सुखधारी।
ध्यान तुम्हारा पावन, सकल क्लेशहारी ॥१॥ ॐ —

हे स्वभावमय जिन तुमि चीना, भव सन्तति टारी।
तुव भूलत भव भटकत, सहत विपत्ति भारी ॥२॥ ॐ —

परसम्बन्ध बन्ध दुखकारण, करत अहित भारी।
पर ब्रह्मका दर्शन, चहुँ, गति दुखहारी ॥३॥ ॐ···

ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिगन, संचारी।
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भण्डारी ॥४॥ ॐ ···

बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शांतिचारी।
टलें टलें सब पातक, परबल बलधारी ॥५॥ ॐ ···

नोट—यह आरती निम्नांकित अवसरों पर पढ़ी जाती है—

१. मन्दिर आदि में आरती करने के समय।
२. पूजा, विधान, जाप, पाठ, उद्घाटन आदि मंगल कार्यों में।
३. किसी भी समय भक्ति-उमंग में टेक का व किसी छन्द का पाठ।
४. सभाओं में बोल कर या बुलवा कर मंगलाचरण करना।
५. यात्रा वंदना में प्रभु स्मरण सहित पाठ करते जाना।

सुख कहाँ?

(१)

'श्री सहजानन्द गीता' प्रवचन

[दिनाङ्क २५–११–१९५२]

निजचेष्टाफलं ह्यन्ये दृष्टिः संसार उच्यते।
विज्ञाय तत्वतस्तत्त्वं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१-५५॥

अपनी चेष्टा का फल दूसरेमें होता है या दूसरेकी चेष्टा का फल अपने में होता है यही दृष्टि तो संसार है। जब अपनी चेष्टाका फल अपने में मानोगे, जैसे मैंने क्रोध किया तो मैं ही भस्म हो जाऊंगा तब सब खराबी दूर होने लगेगी। अपनी चेष्टाका फल अपने में मानना—यह है सम्यग्ज्ञान।

मैं तो अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख वाला आत्मा हूं, मैं फिर दीन होकर परपदार्थोंमें सुखकी लालसा करता हुआ घूमूं? हाय! देखो तो अचम्भा कि स्वयं स्वयंके लिये महान है, स्वयं सुखस्वरूप और ज्ञानस्वरूप है, परन्तु कहाँ कहाँ मोही प्राणी अपने में ही होने वाले ज्ञान व सुखको भूलकर पर पदार्थों की आशाके जाल पुर रहा है। अपने ही हाथ अपने को ही शस्त्र मार अपना ही विनाश करते हुए भी जरा भी हिचकिचाहट तक नहीं करता। जो परिणति पाई जो सम्पत्ति देखी उस ही में विभोर हो जाता है। गई सो गई, अब भी अपनी महत्ता जाने, स्वतन्त्रता माने तब भलाई ही भलाई है। भैया! एक पुरुष व्यसनी था। उसकी

स्त्रीने उसका व्यसन छुड़ाने के लिये एक पत्थर की मूर्ति दी और कहा कि प्रतिदिन इसकी पूजा करके इसके सामने उस दिन के लिये पाप न करने की प्रतिज्ञा किया करो। वह पूजा करने लगा, चावल चढ़ाने लगा, । एक दिन आया एक चूहा चावल खा गया। इसने सोचा इस मूर्ति से तो चूहाही बड़ा है। बस, चूहे की पूजा करनी आरम्भ कर दी। एक दिन बिल्ली आई, चूहे पर झपटी। सोचा इससे तो बिल्ली ही बड़ी है। इस प्रकार फिर बिल्ली पुजने लगी कभी बिल्ली पर झपटा कुत्ता तो फिर कुत्ता पूजा जाने लगा। एक स्त्रीने रसोई बनाते समय कुत्ते को लकड़ी मारी, बस स्त्रीको बड़ा समझ स्त्री की पूजा होने लगी। एक दिन दाल में नमक कम होने के कारण उसने स्त्री को दो तमाचे लगा दिये, वह रोने लगी। अब तो इसने सोचा कि बस मैं ही बड़ा हूँ। उस दिन से अपनी ही पूजा करने लगा। वास्तव में देखा जाये तो महान् हम ही हैं। मैं सिद्ध समान हूं, फिर दीन होकर क्यों इस प्रकार घूमूँ ? अपने चतुष्टय को देखो। 'पर' में मैं क्या कर सकता हूं ? मैं अपने ही स्वरूपसे हूं दूसरे के स्वरूपसे नहीं अपने द्रव्य से हूँ दूसरे द्रव्य से नहीं, अपने क्षेत्र से हूँ दूसरे क्षेत्र से नहीं, अपने परिणमनसे हूँ दूसरेके परिणमन से नहीं, अपने भाव से हूं दूसरे के भाव से नहीं, फिर अपना जगत में कुछ भी समझना दुःख पाते रहने के औटपाये नहीं तो क्या हैं ? हम

कितने ही तर्कवादी बन जायें पर सुखी शान्त होने के लिये तो इस निजवस्तुत्वको पहचानना ही होगा। एक ब्राह्मण था। वह एक गुरु के पास पहुँचा। महाराज कुछ उपदेश दो' गुरु ने कहा-एको ब्रह्मा, द्वितीयं नास्ति'। ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुआ। उसने विशेष जाननेकी इच्छा प्रगट की तब गुरु महाराज ने एक दूसरे गुरु के पास जाने को कह दिया। दूसरे गुरु उसको धर्म का रहस्य समझाने लगे। इसके एवज में उसको गायका गोबर इकट्टा करके उपले पाथने पड़ते थे। बारह वर्ष तक ऐसा ही किया। अन्त में गुरुजी ने बतलाया कि सब धर्मोंका रहस्य अन्तमें एक यही है एको ब्रह्मा, द्वितीयं नास्ति'। ब्राह्मण बहुत पछताया। उसने मन में कहा यह तो मैंने पहले ही जान लिया था, व्यर्थ ही १२ वर्ष गोबर और उठाया। सो भैया ! इस प्रकार हमने विकल्प तो नाना, किये, परन्तु तत्त्व तो एक आत्मा में ही निकलेगा। विशेष जानने की खास आवश्यकता नहीं, एक आत्मतत्त्वको जानो। इतना जानने से ही मुक्ति हो जाती है। जैसे शिव भूति मुनिने तो केवल 'तुषमाष भिन्नं' इतना ही जाना था।

मैं ज्ञानमय हूँ, ज्ञान ही मेरा स्वभाव है, परन्तु सम्बन्ध मात्र रम्य जो ये इन्द्रियोंके विषय है इनमें मैं अनन्तकालसे ठगाया गया। धर्म, अर्थ, काम तीन वर्ग हैं, इनका बराबर सेवन करो यही है गृहस्थका कर्तव्य। जिन्होंने इस नियम

का पालन नहीं किया वह दुःखी हुए । जिन गृहस्थों ने धर्म ही धर्म किया और कर्ज लेकर खाया धनोपार्जनके अभावके कारण वे दुःखी हुए । जिन्होंने धन ही धन कमाया वह भी सुखी नहीं हुए । जिन्होंने विषय ही विषय सेये, परिजनोंकी परिचर्या ही की वह भी सुखी नहीं हुए । अगर हम खाये ही खाये चले जायें तो खाने से भी अरुचि पैदा हो जाती है। जिस चीज़ को हम खाते हैं (जो कि मुंहमें) अगर उसे देख लें तो कै हो जाये । जब राल के साथ वस्तुका सम्बन्ध होता है तो वह इतनी गन्दी हो जाती है कि उसको देखना भी पसन्द नहीं करता । इत्र वगैरह सुगन्धित पदार्थ भी सम्बन्ध मात्र रम्य है । थोड़ी देकरके बाद उन्हें भी हटाने की इच्छा होती है । काफी देर तक सिनेमा देखने के बाद आंखें बन्द करने की तबियत चाहने ही लगती है। मतलब यह है कि परपदमें आराम मिला ही नहीं । ज्ञानी जीवके विकल्प होता है तो यह धुन रहती है कि अब तो मैं यही चाहता हूं कि इन सब विकल्पोंसे छूटकर अपने आप, अपने द्वारा अपनेमें सुखी होऊं ।

मैं तो सिद्धसमान हूं । सिद्धके समान ही मेरा रूप है । जिसने भगवान और अपनेको एक जातिका मान लिया वह अपने ज्ञानका अवलम्बन करके भगवान हो सकता है । सब ही सिद्ध एक-प्रकारके हैं उनमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। इसलिये तो यह प्रसिद्धि हो गई कि हर आत्मा भगवान्

का ही अंश है और मृत्यु होने पर उस एक ही ब्रह्ममें जाकर मिल जाता है । सुखी वही होता है जो अपने उपयोगसे भ्रम को हटा देता है और अपने एकत्वमय स्वरूपको ज्ञानगत कर लेता है । एक मनुष्य बम्बई जा रहा था । एक स्त्रीने कहा—मेरे बच्चेके लिये एक बहुत बढ़िया खिलौना लाना दूसरीने कहा कि बहुत बढ़िया जापानीबबुआ लाना और एक बूढ़ी अम्माने कहा–'ये दो पैसे लो और मेरे बच्चे के लिये एक मिट्टीका सुन्दर सा खिलौना लेते आना। तब वह आदमी कहता है–बूढ़ी अम्मा ! बच्चा तो तेरा ही खेलेगा।' इस प्रकार भैया ! जो स्वाध्याय का मूल्य चुका देते हैं अर्थात् स्वाध्याय करके राग, द्वेष, ममता रहित होकर समताको प्राप्त कर लेते हैं वह ही मोक्ष मार्गमें खेलतेहैं । यदि आत्मीय आनन्द लेना है तो सब कुछ भूलना पड़ेगा । प्रेम होता है तो विश्वके जीवोंसे प्रेम करो–इतना व्यापक प्रेम करो कि प्रेम ही न रहे ।

लालच ही एक ऐसी बुरी बला है जो उदारता, पवित्रता आदि सभी गुणरत्नोंकी होली कर देती है । लालच अर्थात् दीन होना । इसका अर्थ तो देखो–कितनी दीनता कितनी परतन्त्रता इस भाव में भरी हुई है । भाई अपनेको संभालो, बकरियोंमें भूले हुए सिंहके बच्चे की तरह बिपदावोंके कोड़े मतखावो । अन्तर्दृष्टि करें तो तत्त्व मिले, बाह्यदृष्टि होने पर तो आप यही पावेंगे । सभीको परपदार्थों

की तृष्णा लगी हुई है। परपदार्थोंके होनेसे ही अपनेको बड़ा अनुभव करते हैं और यथार्थज्ञानको तो बिना ही काम लिये रिटायर (Retire) कर देते है। एक सेठजी थे। नये मकानका उद्घाटन किया। जो कोई आता उससेसे ही कहते कि भाई जो कमी मकानमें हो बता दो ताकि मैं दूर करा दूं। सबने मकानकी प्रशंसा ही की परन्तु एक साधुने कहा 'सेठजी केवल दो कमियाँ है यदि आप दूर कर सकें तो। 'एक तो यह मकान सदा नहीं रहेगा और दूसरा इसका बनाने वाला भी सदा नहीं रहेगा।' सुनकर सेठजी की आँखें खुली। संसार के सब पदार्थोंकी यही तो दशा है, फिर भी हम उन्हीं में लीन और दीन हो रहे हैं। किसी भी समय अपने को अनादि अनन्त, ज्ञायकस्वभाव, एकाकी, ज्योतिर्मय जानने का प्रयत्न ही नहीं किया।

सब यही चाहते हैं कि लोगोंमें मेरी इज्जत बनी रहे। किसी को एकान्तमें गाली दे दो, बुरा नहीं माना मानेगा। मगर चार आदमियोंके सामने वह ऐसा सहन नहीं कर सकेगा। एक राजदरबारमें कविसम्मेलन हो रहा था। सबने बहुत सुन्दर सुन्दर कविता सुनाई। एक कविने कोरा कागज लेकर कहा महाराज। इस कागज पर एक बहुत ही सुन्दर कविता लिखी हुई है परन्तु दीखेगी उसे ही जो एक बापसे पैदा हुआ हो। बारी बारी से सबको वह कागज दिखाया गया औरसबने ही कहा कि वाह बहुत ही सुन्दर कविता है। राजाने

भी ऐसा ही कहा और उसको इनाम देकर बिदा किया। (हंसी) सो भैया! बात यह है कि वहाँ कोई भी सहन नहीं कर सकता था कि अन्य लोग मुझे ऐसा समझें कि मैं एक बापका नहीं हूं। इज्जत बनी रहे,। इज्जतमें धब्बा नहीं लगे यही सब चाहते हैं और हम भी यही कहते है कि इज्जत के लिये मरें, परन्तु पर्यायकी इज्जतके लिये नहीं, अपनी सच्ची इज्जत के लिये। अपने से उत्पन्न होने वाले मोह अन्धकार को नष्ट करके अपनेको देखो और सुखी हो लो। देहाती कहावत है कि एक भिखारिन को एक लोटा मिल गया। वह बारबार शौचको जाने लगी ताकि सब देखलें कि इसके पास लोटा है। यही हालत हमारी है, जरा सी सम्पत्ति पाते हैं फूले नहीं समाते, बहुत बहुत आडम्बर रचे है उसका दिखानेके लिये। ना कुछ चीजमें व्यर्थ लालसा करके अपने को बरबाद कर रहे है। चक्रीके वैभव के सामने यह प्राप्त हुई लाख करोड़की सम्पदा क्या कुछ चीज है? खैर! जिसे जो करना हो करो, परन्तु एक बात का उत्तर दो 'फिर क्या होगा' करोड़की सम्पत्ति हो गई 'फिर क्या होगा?' इस तरह अन्तमें तो भाई मृत्यु ही होगी! आत्माकी भलाई तो इसीमें है 'पर' पदार्थसे ममत्व हटाना और अपनेको स्वतन्त्र अनुभव करके अपना भविष्य अच्छा बनाना। ज्ञान सागरमें प्रवेश करने पर फिर रागादि पीड़ा नहीं देते।

मान कषायके उदयसे हम हठ करते हैं और स्वयं बरबाद हो जाते हैं। कोई सेरको सवासेर भी मिल जाता है। फिर क्या होता है? एक स्त्री थी भैया! उसने सोचा कि पति को छकाया जाये। वह पेटके दर्दका बहाना लेकर पड़ गई। पति ने इलाज किया सब व्यर्थ। तब पत्नीसे पूछा 'अब इसका क्या उपाय होना चाहिये?' उसने उत्तर दिया कि यदि हमारी सास सिर मुंडाकर, काला मुंह करके सवेरे मेरे सामने आये तो मेरा दर्द ठीक हो सकता है। पति था चतुर। उसने स्त्रीके मायकेमें लिख दिया कि लड़की बहुत बीमार है, अगर मुंह देखना चाहो तो बहुत सवेरे सिर मुंडाकर काला मुंह करके फौरन आवो। तब ही अच्छी हो सकती है ऐसा ही बताया है। माँ का प्रेम! उसी प्रकार से आई। काले मुंहमें पहिचान तो ठीक हो ही नहीं पाती। देखकर स्त्रीने पति से कहा "देखे बीरबानी के चाले, सिर मुंडे मौह काले"। तब पति बोला 'देखी मर्दों की फेरी, अम्मा तेरी या मेरी" (हंसी) सो भैया! हठ करने का नतीजा बहुत बुरा होता है। मान करना दुःखका बीज है। इस मान ही के कारण सास बहू, भाई भाईमें नित्य प्रति झगड़े होते रहते हैं। इसके सद्भावमें आत्मस्वरूपका अनुभव नहीं होने पाता। अतः मान को तिलाञ्जलि दे देना चाहिये, इसका एक उपाय यह भी है कि छोटोंकी सेवा करें। जिन वस्तुओंसे मान का उदय होता हो उनको दूर

करें। लोग चाहे कुछ कहें उनके कहनेका क्या बनता है? ज्ञानी तो अपने हितका मार्ग साफ रखते। एक गुरु चेले थे एक दिन नगर का राजा दर्शनोंको आया। गुरु को चिन्ता हुई कि अब तो तमाम प्रजा ही हमारे दर्शनों को आया करेगी। इस प्रकार हमारे धर्म ध्यानमें बाधा आयेगी और किसी समय मान कषाय भी पैदा हो सकता है। अतः वह राजा के सामने ही भोजन का विषय लेकर लड़ने झगड़ने लगे। राजाने सोचा कि ये कैसे साधु हैं, जो भोजन पर लड़ते हैं। इस तरह से उन साधु महात्माने अपनेमें मान पैदा होनेका जो कारण हो सकता था वह वहीं समाप्त कर दिया। रागादि तभी तक दुख देते है जब तक आत्मा ज्ञान सागरमें गोते नहीं लगाता। हम स्त्री, पुत्र रिश्तेदारीमें गर्क रहे। एक बार भी नातेदारी (अर्थात् 'ना' माने नहीं 'ते' माने तुम्हारा अर्थात् तुम्हारा कोई नहीं है) में गर्क नहीं हुये तभी तो दुखी हैं। भैया! अब तो परपदार्थोंसे ममत्व हटाकर राग, द्वेष, मोह, मान आदि को हटाकर अपनेमें अपने द्वारा स्वयं सुखी होओ।

"श्रीसहजानंद गीता" प्रवचन

[दिनांक २७-११-१९५२]

तत्त्वज्ञो जायते मूको लुब्धस्त्यक्तमिवंह्वलाम् ।
शांतिस्तु तत्त्वतस्तस्मिन् स्यां स्वस्मै स्वे सुखीस्वयम् ॥२-२२॥

संसारके लोग बड़े ही होशियार हैं। यह समझकर कि "जो तत्त्वका ज्ञानी हो जाता है वह बोलता नहीं है, मूक-गूंगा हो जाता है, न चेष्टा करता है, इसलिए उस तत्त्वको जाननेसे क्या लाभ है? जिसके जानने से मूक-गूंगा होना पड़े" वह विषयोंके ही लोभी हो रहे हैं और तत्त्वको जाननेका प्रयत्न ही नहीं करते। परन्तु देखा जाये तो शांति तो तत्त्वमें ही है। तत्त्व अर्थात् ऐसा ज्ञान होना जिसमें राग-द्वेषका लेश भी न हो। जो भी दुःख होता है राग, द्वेष, मोहसे होता है। किसी वस्तुके नष्ट होनेपर ही दुःख नहीं होता, परन्तु नष्ट होनेके बाद भी यह विचार आ जावे कि नष्ट हुई वस्तु 'मेरी थी' तो तत्काल दुःखी हो जाता है। अतः सिद्ध यह हुआ कि दुःख विकल्पमें है, परपदार्थमें नहीं।

इच्छाकी कोई सीमा नहीं है। जिसके पास लाखकी सम्पत्ति हो जाती है वह करोड़की इच्छा करता है। करोड़ वाला अरबकी और इसी तरह····। जिस समय बच्चा पढ़ना आरंभ करता है तो इच्छा होती है कि बी. ए. पास करूंगा,

परन्तु जब एफ. ए. में पहुँच जाता है तो सोचने लगता है कि कौनसो लाइन पकड़ूं। फिर नेता बननेकी, फिर नायक बननेकी, फिर मिनिस्टर बननेकी इच्छा हो जाती है। विपत्तिका कारण इच्छा है। फिर भी हम उसीके दास बने हुए हैं। बड़े आश्चर्यकी बात है। तृष्णाके बढ़ावमें दुःख है और तृष्णाके घटावमें सुख है। जिन्होंने मन मार लिया, जिन्होंने इच्छाओं पर काबू पा लिया वही संत हैं, वही आदर्श हैं, वही परमात्मा है और वही ध्यानके योग्य हैं।

आजकल कोई अपनेको सुखी नहीं बतलाता। सदा यही कहता रहता है अभी तो ऐसा नहीं हुआ, अभी तो यह बाकी है इत्यादि। वह ऐसा नहीं सोचता कि यदि अकस्मात् लखपति न होकर साधारण फेरी वाला हो जाता तो उससे तो अब अच्छा ही है। किसीके पास लाख रुपये का धन हो और हजारका नुकसान हो जाये तो वह ९९००) का सुख नहीं भोगता अपितु हजारके नुकसान को ही रोता रहता है। एक बुढ़िया थी भैया! उसके ७ लड़के थे। एक लड़का मर गया। छः के होते भी संतोष नहीं। बस रात दिन रोना पीटना। बहुत समझाया बाकी लड़कोंने, परन्तु व्यर्थ। शनैः शनैः सभी लड़के मर गये और वह दुखी ही दुखी बनी रही। जैसे उसे जो लड़के बचे थे उनपर संतोष न था और जो मरता गया उसका ध्यान करते-करते ही दुःखी बनी रही, उसी प्रकार हम जो हमारे पास है उसमें

संतोष नहीं करते, परन्तु हमारा यह चला गया यह नष्ट हो गया ऐसा सोच-सोचकर ही दुखी होते रहते हैं। अतः मनुष्यको चाहिये एक अपनेसे कार्य रखे. अपनी निर्मलतासे प्रयोजन रखे। बाहरो संयोग जितने मिलेंगे उतना ही फंसेगा। भोगभूमियां जीवोंके सम्बन्ध कम होते हैं। एक स्वयं होता है एक उसकी स्त्री। बच्चा पैदा होनेपर दोनों मर जाते हैं। अतः बच्चेके प्रति मोह बढ़ाकर जो दुःखकर्म भूमिके मनुष्योंको उठाना पड़ता है वह उन्हें नहीं होता। इन सब बातोंसे सिद्ध हुआ कि इच्छा ही दुःख है। इच्छाको मारने का एकमात्र उपाय यही है कि आत्माको अनादि निधन, चैतन्य स्वभाव वाला चिन्तवन करे। जो पर्याय-बुद्धि हैं, जिन्होंने पर्यायको ही आत्मा समझ लिया है उन ही को इच्छा बढ़ा करती है। जिन्होंने आत्मदृष्टिकी, परको पर समझा उनकी इच्छायें नष्ट हो जाया करती हैं। ज्ञानी अपनेको मनुष्यमात्र नहीं अनुभव करता। वह तो अपनेको चैतन्यमात्र, जानने देखने वाला, ज्ञायक स्वभावी ही समझता है। यही तत्त्व है। इच्छाके अभावमें इस तत्वका अनुभव होता है। प्रयत्न यही करना चाहिये कि इच्छा न हो। ऐसा प्रतीत होता है कि जो भिखारी भिक्षा माँगने आता है, वह यह उपदेश देता है कि अगर त्याग न करोगे तो हम जैसे बन जावोगे, इसपर भी जो 'चल-चल हट-हट तुझपर तो भगवान् भी नाराज हैं, तुझे कुछ देकर भगवान्का द्रोही

क्यों बनूँ, ऐसा कहकर उसको दुत्कार देते हैं वह उदार नहीं हैं। यह आवश्यक है जो भिखारी हट्टा-कट्टा हो, व्यसनी हो उसकी उपेक्षा करना ठीक हो सकता है। परन्तु लोभके वश जो मना कर देते है वह ठीक नहीं करते हैं। जिनके इच्छा नहीं वह सुखी है ! 'फाँस तनकसी मनमें साले, चाह लंगोटीकी दुःख भाले'। जिन्दगी का अर्थ है—निराकुल होना,, फिक्र न होना, संतोषहोना, आत्मस्थिरता होना। संयोगके अन्दर रहते हुए भी अपनेको एक स्वतन्त्र, इकला माने। आप कहेंगे ये तो अपने घरकी बात कह दी। परन्तु भैया ! यही तो पते की बात है। अगर जीवन सुधारना है, सुखी होना है तो मूर्च्छा त्यागो।

बच्चोंका खिलाना बाबाके जिम्मे होता है। वह "बाबा जी" "बाबाजी" कहता है। 'बा' यानी 'उस' 'बाजी' यानी 'पार' के। मानो वह बच्चा उपदेश देता है कि "बाबाजो" अब तो आप 'उस पार' के हो गये हो अर्थात् अब तो घर गृहस्थीका मोह छोड़कर आत्मचिन्तवन करो, परन्तु "बाबा जी" तो 'जाबाजी' (इस ओरके) बन बैठे है। बच्चोंको खिलाकर वह अपने को धन्य समझते हैं। लोग भी समझते हैं कि अब तो इसके पोते पड़पोते हो गये हैं, अब तो यह स्वर्ग जायेगा। प्रथा भी ऐसी चल गई कि है कि चिता पर सोनेकी नसैनी रख देते हैं जिस पर चढ़कर बताया जाता है कि सीधे स्वर्ग पहुँच जाएगा। परन्तु भैया ! नसैनी तो

चढ़ानेके काम भी आती है और उतरनेके भी। (हँसी) उसने तो इतना मोह बसाया—लड़केका, पोतेका, फिर भी आशा करता है कि सद्गति हो। यह असम्भव है।

जो परिस्थिति इस समय अपनी है उसमें संतुष्ट रहो। जो कुछ हुआ है समझो सब कुछ है। अगर खानेके लिये चने ही हैं तो उनको ही खाकर भूख मिटालो। जितना परिवार है, जितने मित्र हैं, जितनी सम्पत्ति है उसमें सन्तुष्ट रहो। यह मत सोचो जो यह होगा तो यह होगा। शेखचिल्ली वाली बात मत करो। ऐसा करनेमें तो दुःख ही दुःख है। हमारा कर्तव्य तो यह होना चाहिये कि वर्तमानमें अच्छा कार्य हो, परिणाम निर्मल रहें, अपनी शुद्ध आत्माकी रुचि रखें फिर जो होगा सो ठीक होगा ऐसा करने वाले चक्री पद तीर्थंकर पद तकको प्राप्त कर लेते हैं। सम्यग्दर्शन सहित ऐसे परिणाम करने से पुण्य बंध होता है और धनसंपदा, वैभव, पुत्र, मित्र आदि प्राप्त होना सब पुण्यका खेल है। एक बार सब तरफ से अपनेको हटाकर ऐसा सोचो तो कि मैं एक हूं, शुद्ध हूँ चैतन्य स्वभाव वाला हूं, परमार्थसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। मुझ ज्ञान-मात्र आत्मासे किसीका सम्बन्ध है क्या ? ऐसा सोचने पर सुख और शान्ति प्राप्त होती है। उदयसुन्दर और वज्रबाहु बहनोई साले थे। उदयसुन्दर स्त्रीके साथ-साथ चल दिये। रास्तेमें एक मुनिराजके दर्शन हुए। झट वैराग्य हो गया कि अरे मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, मेरा किसी से सम्बन्ध ही

क्या है ? किसकी स्त्री, किसका पति ? बस वन गये मुनि और आत्म-कल्याण कर लिया। अग्निपरीक्षाके बाद जब सीताजी विरक्त हो गई रामने बहुत समझाया, क्षमा मांगी, हाथ जोड़े, कहा कि मेरा ख्याल नहीं तो लक्ष्मण का लव कुश आदिका ही ख्याल करो, परन्तु सीताजी ने एक न मानी—और चल दी एक केवल सफेद साड़ी मात्र परिग्रह रखकर कल्याण पथ की ओर—केश उपाड़े—अर्जिका हो गई—रामचन्द्र जी मूर्च्छित हो गये। सीता उनकी यह दशा देखकर भी रुकी नहीं। यह सब क्यों ? आप कहेंगे सीता बड़ी निठुर निकली, सीताने पतिकी आज्ञा भंगकी। ···नहीं भैया ! ऐसी बात नहीं है। मोहका मोह ही पति, मोह ही पुत्र, मोह ही स्त्री होती है। मोह उसमेंसे निकल चुका था, फिर कौन किसका पति, कौन किसकी पत्नि ? फिर सीताकी आत्माका पति सीता ही था और कोई नहीं। किसी आत्माका किसी आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है। रागका रागसे सम्बन्ध है। वहाँ आज्ञा भंगका दोष नहीं लगता। आत्मासे रागद्वेष दूर हुआ फिर कुछ नहीं रह जाता। कृष्णकी सभामें जब जिक्र हुआ कि द्वारका नष्ट होने वाली है, जिसे अपना कल्याण करना हो वह कर ले तो प्रद्युम्नकुमार एकदम तैयार हो गए। पिताने, बाबाने बहुत समझाया कि हमारे होते हुए तुमको ऐसा नहीं करना चाहिए, परन्तु उसने यही उत्तर दिया कि

आप संसारके ही खंभ बने रहो, परन्तु मैं तो चला। स्त्री के पास पहुँचे और अपने विचार प्रकट किए। स्त्रीने कहा जब वैरागी हो रहे थे तब यहाँ आनेकी क्या आवश्यकता थी ? और आप वैरागी होओ या न होओ, मैं तो जंगलको चलती हूँ। ऐसा कहकर तुरन्त ही राजमहल से चलदी। सो भैया। निर्मोहताकी बात ही निराली है। जब मोह समाप्त हो जाता है ऐसा हो ही जाता है। परन्तु मोही जीवोंको अचरज होता है कि ऐसा कैसे हो गया ? जो निर्मोही हैं उन्हें बिल्कुल अचरज नहीं होता—निर्मोहता ही सार है। धन भी, जिसे हम चाहते हैं वह भी मोहसे नहीं मिलेगा। निर्मोही रहो फिर रागवश जो पुण्यबंध होगा उस पुण्यके उदयमें वैभवकी प्राप्ति होगी—मोहसे तो न यहाँ चैन मिलता है और न परलोकमें। परीक्षा तो करके देखो कि आत्माका कोई कुछ है क्या ? जब नहीं है तो मूर्च्छा का त्याग करो। यह बुद्धि करो कि मेरा कोई नहीं, मेरा कुछ नहीं, गृहस्थीके भी सब कार्य करो, व्यापार भी करो और भी काम करो, परन्तु श्रद्धा तो यह रखो कि मेरा कुछ नहीं है, सब मुझसे भिन्न है। इसी श्रद्धाके बल पर आत्माकी विजय होती है और इस ही दृढ़ संस्कारके अनन्तर हम अपनेमें, अपने द्वारा, अपने लिये, अपने लिये, अपने आप स्वयं सुखी हो जाते हैं।

'श्री सहजानंद गीता' प्रवचन

[दिनांक २८–११–१९५२]

अद्वैतानुभवः सिद्धिर्द्वैतबुद्धिरसिद्धता।
सिद्धेरन्श्च पन्था न स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वम् ॥१-४६॥

एक अद्वैतका अनुभव होना ही सिद्धि है। ज्यों ज्यों सम्पर्क बढ़ता है आकुलता भी बढ़ती है। द्वैतकी बुद्धि ही असिद्धि है। एक अपने आपमें लीन होना, अपनेको एकाकी, परपदार्थसे भिन्न अनुभव करना यही कल्याणका मार्ग है। व्यवहार भी उसको ऐसा ही बनाना चाहिये। व्यवहारमें सम्बन्ध इस प्रकारका रखे जिससे विकल्प उत्पन्न न हो, आकुलता न हो। कोई केवल निश्चय निश्चय की ही रटना लगाता रहे—मैं तो शुद्ध, बुद्ध, अनादिनिधन, पूर्ण ज्ञानघन हूँ और व्यवहारमें जो चाहे सो करे, अनर्गल प्रवृत्ति करे, तो वह निश्चय तत्त्वमें नहीं पहुंच सकता—'स्व' का एकपन, एकाकीपन ही मंगल है, वही रक्षा करने के लिए दुर्ग है। जिस प्रकार शत्रुकी सेनासे रक्षा पानेके लिए किलेका आश्रय लिया जाता है इसी प्रकार जब कोई आपत्ति आये तो विचार करें मैं तो अकेला हूं, कोई मेरा नहीं है, किसीसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात् निजके एकत्वरूपी दुर्गमें प्रवेश करें तो अपनी आत्माकी रक्षा कर सकता है। 'स्व' की एकता ही औषधि है। इस प्रकार

विचार करके अपने में, अपने लिए, अपने आप सुखी होओ।

इच्छा नहीं रही तो सारी सिद्धि हो गई। इच्छाके सद्भावमें दुःख ही दुःख है। राग, द्वेष, मोह आदि होने पर भी अगर ज्ञायकरूप रहूं तो कहां विकार है? एक मनुष्य बहुत आवश्यक कार्यसे कहीं जा रहा हो, दरवाजेकी चौखट लगनेसे उसके चोट भी आ जाएँ तो भी उपयोगमें कार्य होनेके कारण उसको चोटका ख्याल ही नहीं आता। जब हमारा उपयोग केवल दुनियावी बातोंमें ही लग जाता है तो शरीरको पीड़ा भी हो जाए तो पता नहीं लगता। फिर यदि ज्ञानमें उपयोग हो जाय तो फिर बाह्यमें कुछ ही क्यों न होता रहे इसका कोई बिगाड़ नहीं कर सकता। सुकुमाल मुनिको गीदड़ी खा रही है, सारा शरीर भक्षण कर लिया है, फिर भी ध्यानसे विचलित नहीं होते, क्या कारण है? बात केवल यह है कि ज्ञानमें ही उपयोग लगा लिया है। उन्हें शरीरमें राग ही नहीं रहा, फिर पीड़ा काहेको हो। दुःखको सहन करना बहादुरी नहीं है, पर उस जातिका परिणाम आना बहादुरी है। जिस पुत्रसे मोह हट जाता है कुपूत होनेके कारण या और किसी कारण, उसकी कैसी अवस्था हो जाय किसी प्रकारकी भी आकुलता नहीं होती। अतः सिद्ध हुआ कि ममता, 'स्व' का एकत्व, परपदार्थसे अपनेको भिन्न समझना, अपनेको

चैतन्य मात्र जानने देखने वाला अनुभव करना यही तत्व है, यही औषधि है, यही दुर्ग है, यही सुधा सागर है।

हे आत्मन्! तू दुखी क्यों है? मेरा तो इस आत्मा ही में न्याय, विधि विधान, कचहरी, सिपाही, फैसला, जेलखाना सब...यहीं है! इसके अलावा बाहरमें क्या है? कोई पुरुष था। उसने अपनी मुट्ठी बन्द करली और कहा — मेरी मुट्ठीमें सब कुछ है—हाथी, घोड़े, बगीचे, महल आदि। सबको अचरज हुआ। कहा "दिखाओ"। मुट्ठी खोली। हाथमें स्याहीकी टिकिया, जिसमें जरा सा जल मिलाकर जो चाहो सो बनाया जा सकता था। इसी प्रकार हमारी आत्मामें भी सब कुछ है। हमारे पास ज्ञानोपयोग रूपी स्याहीकी टिकिया, श्रद्धाका जल और चरित्रकी कलम हो तो सब कुछ हमारे हाथोंमें है। 'मैं ही सुखका पुंज हूँ' ऐसा विचार कर अपने मनमें, अपने लिए, अपने द्वारा स्वयं सुखी होऊँ।

मैं आत्मा ज्ञानका पिण्ड हूँ, अन्यसे भिन्न हूँ, एकाकी हूँ। अपने उन्मुख हो तो सुख ही सुख है। परोन्मुख हो, दूसरेकी चिन्ता करे, इन्द्रिय और मनके मार्गमें जावे तो दुःख ही दुःख है। ज्ञानी विचारता है मुझे 'परकी परीक्षा से क्या प्रयोजन है, स्वाभाविक आनन्द तो निजको परिणति से ही होता है। एक मनुष्य एक आचार्यके पास पहुँचा और पूछा—"महाराज, मुझे बताओ धर्म क्या है?"

आचार्यने कहा—सामने तालावमें एक मगर पड़ा है, वह तुम्हें बतायेगा धर्म क्या है ?" वह मगरके पास गया और वही प्रश्न किया । मगर ने कहा, "अभी बताता हूँ, मुझे बहुत प्यास लगी है, सामने कुएंसे एक लोटा जल ला दो, फिर तुम्हें धर्मका स्वरूप बताऊंगा ।" मनुष्यने कहा, "तुम बड़े मूर्ख मालूम होते हो, जो जलमें डूबे हुए हो और कहते हो कि प्यासा हूँ ।" मगर हँसा और उत्तरमें इस प्रकार कहा—"भाई तुम भी बड़े मूर्ख हो, धर्म तो तुम्हारे पास, तुम्हारे अन्दर ही है और फिर भी पूछते हो धर्म क्या है ?" यही हमारी दशा है । सुखमें डूबे हुए हैं अर्थात् सुखसे तो भरपूर हैं, परन्तु वाह्य पदार्थोंमें उपयोग लगा लगा कर दुखी हो रहे हैं । कभी भी इस प्रकारका उपयोग नहीं रख सके कि मैं तो एक ज्ञानघन, ज्ञानस्वभावी, ज्ञाता, द्रष्टा, 'स्व' में ही प्रतिष्ठित हूं ।

सबसे पहले आत्मामें इच्छा होती है । इच्छा हुई कि प्रयत्न होने लगता है, शरीरकी वायु चलने लगती है, फिर यह ढांचा (शरीर) चलने लगता है । सबका मूल क्या है—इच्छा । तीर्थंकर भगवान्के भी पहले इच्छा रही थी, इच्छासे कर्मबन्ध हुआ और जब कर्म उदयमें आया उन्हें भी विहार करना पड़ा । भव्य जीवोंका पुण्योदय भी होता है और भगवान्के विहायोगति नामा कर्मका उदय भी होता है, जो उन्हें विहार करना पड़ता है । जब जब सिद्ध

हो जाते हैं अर्थात् कर्मोंसे मुक्त हो जाते हैं, फिर स्वभाव में ही अनन्तकाल तक ठहरते हैं, टससे मस नहीं होते । सकल परमात्मा भी स्वभावमें ठहरते हैं । केवल शारीरिक परिणमन कर्मोदयानुकूल होना पड़ता है ।

जितना भी जानना है, देखना है, सूंघना है, सुनना है सब आत्माका औपाधिक काम है । लोगोंको दीखता है—इसने (शरीरने) जाना, इसने देखा, इसने सूंघा, इसने सुना, परन्तु यह आत्माकी दृष्टि है । जैसे अंधेके कंधे पर लंगड़ा बैठा हुआ है, लोग समझते हैं कि वह अपनी ही आँखोंसे देखता हुआ चलता है, परन्तु ऐसा नहीं है, दृष्टि तो लंगड़ेकी ही मार्ग बता रही है। इसी तरह यह शरीर रूपी यन्त्र तो चल रहा है, परन्तु चलाने वाला तो आत्मा ही है । सब कार्य ऐसा जानना, देखना आदि अशुद्ध आत्मा ही कर रहा है । ड्राइवर तो आत्मा ही है, यह शरीर तो केवल एक ढांचा है । जिनके शरीरमें लकवा मार जाता है उनके शरीरमें वायुका संचार बंद हो जाता है । अतः शरीर काम नहीं करता । आत्माका काम तो इच्छा करना उस अवस्थामें भी होता ही रहता है ।

पहले पहल जब ज्ञान होता है तो मालूम होता है कि सब लोग बड़े पागल हैं, बड़े मोही हैं जो परपदार्थोंमें फंसे हुए हैं । जब ज्ञान और बढ़ता है तो सोचने लगता है—कौन पागल हो रहा है, कौन मोही हो रहा है ? ये सब तो

सामान्य चैतन्यरूप हैं। उसको सब पाषाणवत् दिखाई देता है और भीतर गहरेमें पहुँचता है तो विचार आता है कि चैतन्यस्वभाव तो सबकी आत्मामें निश्चित रूपसे है। अगर उस पर दृष्टि डालें उसे ही अनुभव करें तो धीरे-२ भगवान् बन सकते हैं। परन्तु धुन तो विषयोंकी, कषायों की, आशाकी लगी हुई है। इस प्रकार ज्ञानदृष्टि पाकर भी धन, परिवार आदि मनमें बसाए हुए हैं। जो पशु होकर सीखा था वही संसार अब भी है। दुर्लभ मनुष्यभव पाकर भी सावधानी न हो यह खेद ही की बात है। एक पुरुष था। उसको किसीने बताया—इन पत्थरोंके ढेरमें एक पारस पत्थर भी है, जिसको अगर लोहेसे छुआ दिया जाय तो लोहा सोना बन जाय। लाखों पत्थरोंमें एक पारस था। वह नदी किनारे लोहेका डंडा गाड़कर बैठ गया। एक एक पत्थर उठाये, लोहेसे मारे और नदीमें फेंक दे। यही क्रम चला। दस, बीस, सौ, हजार, दस हजार, उठाने, लोहेसे छुआने और फेंकनेका स्वभाव सा पड़ गया। उसी धुनमें वह पारस पत्थर भी उसके हाथमें आया, उसे भी उसने उठाया, लोहेमें मारा और नदीमें फेंक दिया। सो भैया! इसी प्रकार हम भी आहार, भय, निद्रा, मैथुन, राग, द्वेष, मोहकी धुनमें इतने मस्त रहते हैं कि लाखों गतियोंके बाद यह अमूल्य मनुष्य भव पाया भी, तो गंवाया और चल दिये। ये संयोग अर्थात् स्त्री, पुत्र, मित्र आदि

कोई भी अपने काममें नहीं आते। ऐसी श्रद्धा करे मेरा कुछ नहीं है, मैं किसीका नहीं हूं और आत्मामें ही विहार करे तो अपनेमें, अपने द्वारा, अपने लिए स्वयं सुखी हो सकता है।

(४)

"दीक्षा-समारोह" के अवसर पर

(दिनाङ्क ३० नवम्बर सन् १९५२ ई० को मध्याह्न काल मुजफ्फरनगर में 'दीक्षा समारोह' मनाया गया। सहस्रों स्त्री, पुरुषों व बच्चोंके बीच हमारे पूज्य श्री ने अध्यक्ष पदसे उस समय जो भाषण दिया वह नीचे प्रस्तुत किया जाता है। आपके सत्सङ्ग व भाषणोंका प्रभाव जनता पर अपूर्व ही पड़ा और पचासों स्त्री, पुरुष व बच्चोंने श्री सिद्धयन्त्र को साक्षी कर पूज्यश्री से व्रत व नियम लिये। इनमें स्थानीय श्री छोटनलाल जी, श्री कालूराम जी सेठी इन्दौर वाले, श्री बादामीलाल जी, व श्री दुलीचन्द जी खंडवा वालोंके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। अपने क्रमसे दूसरी, पहली, दूसरी व पहली प्रतिमायें ली)

भाषण

"बा० बलबीरचन्द्र जी का भाषण सुनकर दीक्षान्त समारोहका ख्याल आया। इस शब्दको पत्रोंमें सुना करते थे, अब भी मैं ठीक तो नहीं समझ रहा कि जो दीक्षा समारोह विद्यालयमें होता है उसका अर्थ क्या है? मेरी

समझमें तो यह आता है कि जिस समारोहमें व्रत, नियम, प्रतिज्ञायें ली जायें वही दीक्षा समारोह कहलाता है। आपके सामने बा० मुख्तारसिंह जी रिटायर्ड इन्जीनियर, रुड़की (वर्तमान बा० श्री नित्यानन्द जी) ने भाषण दिया। आप सप्तम प्रतिमाके धारक हैं। बनारसमें थे। लेक्चरार भी रह चुके हैं। अब आपने त्याग ले लिया है। आपने समझा कि नियम और व्रत किसे कहते हैं ?

मनुष्य सुख और शान्ति चाहता है। जो आत्मविज्ञानी होते हैं उन्हें ही यह प्राप्त होती है। साइंस दो प्रकारकी होती है—एक 'पर' साइंस, दूसरी 'आत्म' साइंस। पर साइंस में यही बताया जाता है कि धातु और यह धातु मिलाई जाय तो यह बनता है, इसका फल यह होता है इत्यादि। आत्म साइंसमें भी यही बात बताई जाती है कि यदि यह परिणाम किया तो यह फल होगा और यह परिणाम किया तो यह फल होगा। उसमें यह भी बताया जाता है कि सुखके मार्ग में चलनेका उपाय क्या है ? बा० वासुदेवप्रसादजी ने बताया—"सच्चा विश्वास, ज्ञान और क्रिया ही मोक्षका मार्ग है।" आत्माका आत्मामें लीन हो जाना यही सुखका मार्ग है। इस समय आत्मा कर्मोंके बंधनमें बंधी हुई है। जिन चीजोंकी इस आत्माको जरूरत नहीं है, जिनके बिना आत्मा रह सकता है, जिनके बिना आत्माकी किसी प्रकारकी भी हानि नहीं है उन चीजोंको छोड़ना भी चारित्र कहलाता है। वास्तवमें तो आत्मस्थिति चारित्र है, फिर भी वह साधन तो है ही। आत्माके ५ शत्रु हैं—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया और लोभ। इन कषायोंका त्याग करना ही आत्म-धर्म है। इनमें मिथ्यात्व प्रधान है। मिथ्यात्वका अर्थ है मोह यानी यह मेरा, यह शरीर मेरा, यह पुत्र मेरा, यह धन मेरा, यह मकान मेरा इत्यादि। क्रोधका अर्थ है गुस्सा करना, मानका अर्थ घमंड; माया माने कपट और लोभ माने पदार्थोंका लालच। इन पाँचों दुश्मनोंसे छुटकारा पाना ही संयम, चारित्र या त्याग कहलाता है। अब प्रश्न होता है कि क्या त्याग, व्रत, नियम, 'पर' पदार्थके आश्रय हैं या स्वयं आत्माके आश्रय हैं ? उत्तर सीधा साधा यही है कि त्याग, व्रत, नियम आदि सब आत्मा ही के आश्रय हैं, परन्तु अनादि कालसे मोहका इतना तीव्र संस्कार चला आ रहा है कि कोई निमित्त मिला भाव खराब हो जाता है। जिनको आत्मा पर दया आ जाती व उनकी निवृत्तिमें बाह्य पदार्थोंकी कोई आवश्यकता ही नहीं रहती तो वह उनका त्याग कर देते हैं। बाह्य पदार्थका त्याग तो केवल इसलिए किया जाता है कि उनके निमित्तसे जो आत्मामें क्षोभ पैदा होता था वह न हो और आत्मा सुख और शान्तिका अनुभव करे। त्यागका फल तो

वास्तवमें यही है कि त्याग करनेके बाद उस वस्तुके निमित्त से होने वाले क्रोध आदि कषायकी उत्पत्ति ही न हो। ज्ञानी पुरुष वस्तुके यथार्थज्ञानसे अपनी दृष्टि निर्मल करते हैं, जिससे शुद्ध स्थितिकी रुचि होती है। इसके बाद प्रतिमा-का व्रत लिया जाता है अर्थात् सम्यग्दर्शन सहित नियम लिया जाता है। इसमें यह होता है कि शुद्ध भोजन करूंगा, हिंसा नहीं करुँगा, सत्य बोलूँगा, चोरी न करुँगा, ब्रह्म-चर्यसे रहूंगा, परिग्रहका परिमाण करुँगा, दिशाओंकी मर्यादा करूँगा, निमित्त रूपसे सामायिक करुंगा, अष्टमी व चतुर्दशीको उपवास करुँगा, भोगोपभोग सामग्रीका परिमाण करुँगा, अतिथिको दान दूंगा इत्यादि। जो प्रतिमा लेनेकी इच्छा करें वह अपने भाव इस प्रकार बनायें। आप अपनी श्रद्धामें जो बाह्य व गन्दे पदार्थ हैं जिनमें धनकी भी हानि है, आत्माका हित नहीं है अपने पर दया करके त्यागका नियम लेंगे ऐसी मुझे आशा है।

(५)

"श्री समयसार' प्रवचन

[दिनङ्क ३०-११-१९५२]

विजहति न हि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः
समयमनुसरंतो यद्यपि द्रव्यरूपाः।
तदपि सकल रागद्वेषमोहव्युदासा-
दवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबन्धः ॥१२४॥

पहले बांधे हुए जो कर्म हैं, आश्रव हैं, वह अब भी

सत्ताको नहीं छोड़ रहे, वह द्रव्यरूप ज्ञानावरणादि कर्म आत्मामें सत्ताको रख रहे हैं, फिर भी ज्ञानी जीवके पर-पदार्थोंमें मोह न रहनेके कारण पिछले कर्म और कर्म बांधने में समर्थ नहीं हो पाते। अमुक कार्य हो जाय तो धर्म कार्य में लगेंगे इस प्रकार जो समयकी प्रतीक्षा करते बाट जोहते रहते हैं उनके उस भावके रहते कल्याणका समय कभी आता ही नहीं है। धर्म क्या कोई चीज है जो परिवारका सम्बन्ध न रहे तब हो, जब इनता धर्म हो तब हो? नहीं। धर्म तो आत्माकी वीतराग परिणतिका नाम है। जिस समय स्व-भावदृष्टि हो जाये, सबसे भिन्न जो आत्म तत्व है उसका ही ध्यान हो, उसका ही अनुभव हो तो उसी समय धर्म हो गया। आज दोपहरको एक समारोह हुआ जिसमें कुछ सज्जनोंने व्रत, प्रतिमा आदि लिये। भैया! छठी प्रतिमा तक तो गृहस्थीमें रहता हुआ, स्त्री होते हुए, बच्चे होते हुए भी ली जा सकती है। काम तो प्रतिमा लेनेका गृहस्थोंका है, परन्तु आज उनके मत्थे पड़ रही है जिन्होंने घरका त्याग कर दिया है। क्योंकि आरम्भसे हमारे संस्कार ऐसे नहीं हैं इसलिए प्रतिमा लेना, व्रत लेना कठिन सा हो गया है। गृहत्यागियोंका तो ढंग ऊँची प्रतिमा व साधुव्रतमें ठीक है। कौन कैसा मनुष्य है जो बड़े-बड़े कष्ट, बड़े-बड़े परिषह सहन नहीं कर सकता? परन्तु जब सब प्रकार आरामसे

रहनेकी परिस्थिति हो, घर वालोंका प्रेम भी हो, धन वैभव भी हो तब ऐसा अनुभव होता है कि यह नियम हमसे न पल सकेगा। दिल मजबूत होना चाहिये फिर व्रत का पालन कोई बड़ी बात नहीं है। दो या तीन बार खानेके अलावा खानेका त्याग अमीर व गरीब सभी कर सकते हैं। इन्दौरके सेठ कल्याणमलजीकी दूसरी स्त्री अक्सर बीमार रहतीं और सालमें लगभग १००-१२५ उपवास भी करती थीं। हमने कहा कि इतने उपवास न किया करो तो उसने उत्तर दिया कि "सब कुछ घरमें होते हुए मैं न खाउं, मैं न उस में रुचि करूं" मैं तो अपनी तबियत इस प्रकारकी बनाना चाहती हूं और दूसरे मेरा बाल्यकालसे वैधव्य जीवन है उसको अनेक उपवासोंसे गुजारना ही ठीक था। सो भैया ! अमीर होकर, बढ़िया पदार्थ अपने पास होकर भी उपवास करना बहुत बड़ी चीज है। यह मनुष्य भव पाना बड़ा दुर्लभ है। धन होते हुए भी नियमित्त रूपसे भोजन करना ही चाहिये। हाँ....तो....द्रव्य कर्म अपनी सत्ता नहीं छोड़ रहे हैं, फिर भी ज्ञानीके नवीन कर्म बंध नहीं होता। वैसे तो पहले बंधे हुए कर्मोंका बंध होता है, कार्माण वर्गणायें और आत्मा एक क्षेत्रावगाह अवश्य हो रहे हैं, परन्तु आत्मामें नहीं बंधते। कर्म कर्मसे बंधते हैं क्योंकि मूर्तिक का मूर्तिकसे ही बन्धन हो सकता है। हाँ, निमित्तनैमित्तिक

सम्बंध अवश्य है। ज्ञानीके क्योंकि रागद्वेष नहीं होता इसलिये उसके कर्म भी नहीं होता। अपनी आत्मामें उत्साह रखना बल रखना, जैसी भी परिस्थिति हो प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लेना यही सुख और शान्तिका मार्ग है। हमें तन का अधिक सुखिया नहीं होना चाहिये। समर्थता होते भी व्यर्थ दीनता अनुभव नहीं करना चाहिये कि यह व्रत ले लिया तो कैसे पूरा होगा इत्यादि। चाहे जैसी स्थिति हो राग, द्वेष, मोहका त्याग करना चाहिए। यह बाह्य समागम तो इन्द्रजाल है। इस बाह्य समागममें यदि मनको लगाया राग किया तो मिलेगा क्या ? एक दिन तो यहाँ नहीं बने रहेंगे। अतः इनसे ममत्व छोड़ो।

ज्ञानीके राग, द्वेष, मोह असम्भव है, इसलिए उसके कर्मबंध नहीं होता। अगर कोई किसीको मित्रतामें गाली दे दे तो सुनने वालेको बुरा नहीं लगता, परन्तु गालीके वही शब्द यदि कटाक्षसे दूसरेको चिढ़ानेके लिए कहे जावें तो वह बुरा मान जाता है। तो भैया सिद्ध हुआ कि शब्द तो बुरे भले नहीं हैं, वह तो ग्लानिके योग्य नहीं हैं, परन्तु ग्लानिके योग्य तो वह भाव हैं जिससे वह शब्द कहे गये हैं। जिस अभिप्रायसे कोई गाली देता है जब हम उसका यह अभिप्राय जान लेते हैं तो हममें उसका वैसा ही असर हो जाता है।

जो पुरुष शुद्धनयको एकाग्र होकर संग्रह करते, जो ज्ञायक भावका ही आश्रय लेते हैं, वे राग, द्वेष, मोहादिसे मुक्त होकर समय (आत्मा) के सारको देखते है। जिसकी जैसी दृष्टि पड़ती है वैसा हो जाता है! एक बार एक राजा शिकार खेलता हुआ जंगलमें एक बुढ़ियाकी कुटियामैं जा पहुँचा। बुढ़ियाने उसको एक सामान्य अतिथि समझा और उसको एक गन्ना लेकर उसका रस पिलाया। जब उस गन्नेको निचोड़ा तो एक सेर रस निकला। राजाने पूछा "बूढ़ी अम्मा! तुम्हारे खेत पर राजा क्या लगान लेता है।" उत्तर मिला–"एक रुपया साल।" राजाके मन में बिचार आया कि लगान बहुत कम है अधिक होना चाहिये। चलते समय जब उसको फिर रस पिलाया गया तो उन्हीं गन्नोंमें से केवल एक-एक छटांक रस निकला। राजाने आश्चर्यसे पूछा–"क्या बात है?" बुढ़ियाने उत्तर दिया 'मालूम होता है कि राजाके मनमें कुछ फर्क आ गया है।' (हँसी) सो भैया, भावोंका असर अवश्य होता है। न शब्दोंका असर होता है और न ही क्रिया का। यही श्रद्धा रखनी चाहिये कि मुझे परेशान करने वाले, दुःखी करने वाले कोई चेतन व अचेतन बाह्य पदार्थ नहीं हैं। देखा जाये तो इनका कुछ असर भी नहीं पड़ता। जैसे पागल किसीको गालों दे और यह पता चल जाये कि गाली देने वाला तो पागल है तो उसको बुरा नहीं लगता। इसी

प्रकार हमको भी विचारना चाहिये कि मोहमें पागल हुए ये लोग ऐसी चेष्टा कर रहे हैं, अपने स्वभावसे नहीं कर रहे हैं। अन्तर, चेष्टा स्वभावसे ऐसी होती ही नहीं है। इस प्रकारकी भावना करने वाला ज्ञानी पुरुष व्यवहारमें रहता हुआ भी, घरमें बच्चोंमें रहता हुआ भी कुछ न कुछ विशेषता अवश्य रखता है।

जो राग, द्वेष, मोहादिसे मुक्त हो जाते हैं वह अपने अन्दर परमात्माके दर्शन करते हैं। राग द्वेष पैदा न होने देनेका उपाय है आत्मस्वभावको पहिचानना कि मैं तो एक हूँ, स्वतन्त्र हूँ, सबसे भिन्न हूं, परपदार्थ मेरा कुछ सुधार बिगाड़ नहीं कर सकते। व्यवहारमें भी तो किसी त्यागी साधुको देखकर कह दिया करते हैं कि ये तो भगवान्के अवतार हैं। न जाने किस भेषमें भगवान्के दर्शन हो जायें। बातभी ठीक है क्योंकि हर एक आत्माका स्वभाव भगवान् जैसा है। न जाने कब कौन व्यक्ति अपनेमें से राग, द्वेष, मोहको अलग करके शक्तिरूप परमात्मस्वरूपको व्यक्त करले? राग, द्वेष, मोहको जितना-जितना कम किया जाता है परमात्माके उतने ही पास पहुंचते जाते हैं। इसके विपरीत जो लोग ऊटपटांग धाँधलाबाजी मचाते हैं, भंग पीकर ही कहते है कि भगवान्के साक्षात् दर्शन हो जाते हैं और गीत भी ऐसे ही ऐसे बना रखे हैं जिनसे यह झलकता है कि भंग पीनेके बाद भगवान्के दर्शन होते हैं, वह

सब व्यर्थकी कल्पना है। उनकी बातोंमें आकर बहुतसे लोग उनकी ओर प्रवृत्त होकर व्यसनी हो जाते हैं और एक व्यसनके बाद और व्यसनोंका भी वह आदी बन जाता है। भगवान् दीखता है राग, द्वेष, मोहके अभाव होने पर। भगवान् आंखोंसे नहीं दीखता, परन्तु राग, द्वेष, मोहके अभावमें आत्मानुभव होनेपर परमात्मा-अनुभव हो जाता है। परमात्माका दर्शन इन्द्रियोंके संयमके आधीन है। अपनी इन्द्रियोंका सदुपयोग किया, विषयभोगोंमें न लगाया, आत्मध्यान हुआ भगवान्का दर्शन हो गया। जिसने शुद्ध नयका अवलम्बन किया वही परमात्मका दर्शन करता है।

हमें तो सदैव यही विचारना चाहिये, यही प्रार्थना करनी चाहिए कि मेरे अन्दर ऐसी पवित्रता आवे, मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति इतनी पवित्र हो कि चाहे कैसा ही उपद्रव क्यों न आये, किसीका भी अहित मन तकमें भी न आवे। वचन और कायकी बात तो दूर रही...निर्मलताकी रुचि न रखनेसे क्या होता है ?...पूजन करके घर पर आई और देवरानी, सास वगैरहसे लड़ने लगी—बताओ उस पूजनका क्या लाभ लिया ? मंदिरमें गये और भाई भाईमें झगड़े होने लगे, बताओ मन्दिर जाना किस काम का रहा ? भाई धर्म तो इसमें है कि मनको ऐसा पवित्र बनायें कि किसीका अहित भी न सोचें। पुरुषों-पुरुषोंमें महिलाओं-महिलाओंमें झगड़े होते हैं। इनका मूल कारण देखा जाये

तो समझ में आयेगा कि अपने बड़प्पनको रखने के लिए ही कि मैं बड़ा हूँ, ये सब झगड़े होते हैं। पर भैया, बड़े तो कषाय छोड़नेसे होंगे। अपने अन्दर ऐसा बल पैदा करो कि जो संयोग, जो सम्पत्ति, जो वैभव प्राप्त हुआ है, उसमें मेरा ममत्व अर्थात् ये मेरे हैं ऐसी कल्पना ही न हो। बस फिर सुख ही सुख है।

जो शुद्धनयसे च्युत होकर रागादि करते हैं वहीं कर्म-बन्ध करते हैं और उनको नाना प्रकारकी दुर्गतियोंमें जाना पड़ता है। परन्तु जो ज्ञानी होते हैं, किसी भी परिस्थितिमें हार्दिक निर्मलतामें अन्तर नहीं करते। सागरमें श्री चिरोंजा बाई थी। उन्होंने अपनी ननद ललिताबाईको जो बेपढ़ी-लिखी थी कह रखा था कि अगर कोई लिखा हुआ कागज कूड़ेमें पड़ा हो तो उसको उठाकर रख दिया करो। एक दिन ललिताबाईने भक्तामर काव्य लिखा कागज कूड़ेमें ही बुहार दिया। बाईजीको क्रोध आया। उन्होंने उसकी चुटिया पकड़कर उसका सिर दीवारमें दे मारा, परन्तु दीवार और उसके सिरके बीचमें अपना बांया हाथ रख लिया ताकि उसके चोट न लगे। उन्हें क्रोध तो आया, परन्तु ज्ञान रहा इसीलिये ऐसी प्रवृत्ति हुई। सो भैया ! ज्ञान तो हमेशा रक्षा करता है। ज्ञान कभी धोखा नहीं दे सकता। पतन करने वाली तो कषाय है जिन निमित्तोंसे कषाय उत्पन्न होनेकी सम्भावना हो उन निमित्तोंका त्याग

करना यही तो व्रत है, यही नियम है। सदैव ऐसे भगवान् को पूजो जिसमें वह भाव वह चीज न हों जो हमें रुला रहे हैं, दुःखी बना रहे हैं, खोटा बना रहे हैं। अगर मैं, मेरे अन्दर रहने वाले रागके कारण दुःखी हूं तो रागरहित भगवान् की पूजा करूँ तो रागसे छूट सकता हूं। सारांश यह निकला कि जिस आत्माने राग, द्वेष, मोहको अपने अन्दरसे हटा दिया है वही पूजने योग्य है और जो स्वभाव उस आत्माका वही तो हमारा भी स्वभाव है। इस प्रकार का विचार, इस प्रकारका चिन्तवन यही तो सुख और शान्तिका मार्ग है।

शुद्धनय हेय नहीं है। शुद्धनयका सहारा लेनेसे कर्म-बंध नहीं होता। योग अथवा समाधि इसीको तो कहते हैं कि बाहरी पदार्थका आश्रय छोड़कर अपने स्वभावमें लीन हो जाये। सदैव यह श्रद्धा रखे कि मैं तो अकेला हूं, स्वतन्त्र हूं, सबसे भिन्न हूं, यहाँ तक कि इस शरीरसे भी न्यारा हूं, इन कपड़ोंसे भी न्यारा हूं, किसीका मेरेसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकारकी श्रद्धा ही सुखी करने में सहायक है और देखो तो भैया! अपने पास है ही क्या? तीर्थंकरोंको तो देखो जो सबसे बड़े भारी वैभववान् थे वह भी सर्वका त्यागकर निस्परिग्रही बने और शांति पा सके। मल्लयुद्धमें एक मल्लने दूसरे मल्लको हराया, फिर उसने तीसरेसे युद्ध किया, उसको भी जीता, चौथेसे किया उसे भी हरा दिया,

परन्तु जब आखिरी मल्लसे युद्ध हुआ तो स्वयं हार गया तो विजयीका टाइटिल तो आखिरी मल्लको ही मिलेगा, यद्यपि वह केवल एक ही मल्लसे जीता और पहला मल्ल तीन मल्लोंको जीतने पर भी विजयी नहीं कहलाया। इसी प्रकार सम्पदामें चक्रवर्ती भी बहुत महान् होते हैं, परन्तु सबसे बड़े तो तीर्थंकर ही कहलाते हैं जिनके आगे चक्रवर्ती भी माथा नवाते हैं। अपनेको स्वतन्त्र रखो, पर-पदार्थोंसे भिन्न समझो तो कर्म न बंधेंगे और ऐसी श्रद्धा करनेमें ही अर्थात् अपनेको स्वतन्त्र समझनेमें ही जीवनकी सफलता है।

(६)

'श्री सहजानन्द गीता' प्रवचन

[दिनाङ्क १-१२-१९५२]

ज्ञप्तिमात्रदशायां न दुःखं स्यात्कर्मनिर्जरा।
सैषोऽहं ज्ञप्तिमात्रोऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१।४१॥

मैं तो ज्ञाता स्वरूप हूं। मुझ आत्माके जानने पर अर्थात् आत्मज्ञान होने पर कषाय शिथिल हो जाती है, दुःख नहीं रहता व कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है। कितने लोग कषायोंको दूर करनेका प्रयत्न करें और आत्मज्ञान न हो, भले ही मंद कषाय हो जायें, परन्तु जड़से कषायोंका नाश नहीं हो सकता। उपयोग बिना हम एक क्षण नहीं रह सकते। परन्तु यह हमारे हाथमें है कि उस उपयोगको चाहे हम ज्ञानकी ओर लगादें चाहे कषायोंकी ओर, चाहे

'स्व' की ओर, चाहे 'पर' की ओर। जब पर्यायमें बुद्धि रहती है, नाम, रूप, आदिमें वुद्धि रहती है तब क्रोध आदि कपाय होते हैं। जहाँ सर्वपदार्थोंसे भिन्न आत्म त्वको जाना, उस ही को पहिचाना, कषाय समाप्त हो जाती है और मैं जाननेके अतिरिक्त करता भी क्या हूं? ऐसी श्रद्धा करो कि मैं ज्ञाता द्रष्टा स्वरूप हूं, अजन्मा हूं, (जो वस्तु न हो वह हो जाय इसे जन्म कहते हैं) अमर हूं, मेरा कभी मरण नहीं होता। माता-पिता मेरे (इस आत्माके) पैदा करने वाले नहीं, वे तो शरीरको ही पैदा करनेमें निमित्त हैं। बस मेरी तो यह स्थिति हो कि मैं तो रहूं और ये शरीरादि कुछ भी न रहें। बस मैं केवल ज्ञानमय आत्मा तो रहूं और कुछ न रहे। शरीरके नष्ट हो जानेपर कितनी विपदायें नष्ट हो जाती हैं? न भूख रहती है, न प्यास, न अनिष्ट संयोग, न इष्ट वियोग आदि। इष्ट और अनिष्टकी कल्पना भी तो इसी शरीरके संसर्गसे होती है और भैया! भगवान् भी तो उसे ही कहते हैं जहाँ शरीर नहीं रहता अर्थात् जब मोक्षमें जा विराजते हैं। इससे पहले भी अर्थात् तेरहवें व चौदहवें गुणस्थानमें भी भगवान् कहा जाता है। यद्यपि वहाँपर शरीर रहता है फिर उस शरीर सम्बन्धी राग मोह नहीं रहता। अतः शरीर रहना, न रहना बराबर ही है। 'भग' का अर्थ है 'ज्ञान'। 'भगवान्' का अर्थ हुआ ज्ञानवान्। जो निर्मोह और निष्कषाय हो वही भगवान्

कह दिया जाता है और जो भी स्वभावकी ओर ढले भगवान् है, क्योंकि वह भी तो उसी मार्ग पर चल रहे हैं जिसपर चलकर भगवान् बनते हैं। अतः उपचारसे उन्हें भगवान् कह दिया जाता है। कभी-कभी कारणमें भी कार्यकी कल्पना करली जाती है। ऐसे भगवान्की उपासना से ही कुछ प्राप्त हो सकता है। जड़ पदार्थोंकी उपासनासे कुछ नहीं मिलता। विषापहार स्तोत्रमें भगवान्की स्तुति करते हुए बतलाया गया है कि 'ऊँची प्रवृत्ति वालेसे कुछ नहीं मिलता और तुँग प्रवृत्तिके हों और हों अकिंचन, नग्नस्वरूप शरीरसे भी रहित, उससे सब कुछ प्राप्त होता है। हे भगवान्! आप उदात्त हो, महान् हो, जो आपसे फल मिल सकता है वह धनिकोंसे नहीं मिल सकता! क्योंकि आप अकिञ्चन हो, आपके पास कुछ भी तो नहीं है, यहाँ तक कि शरीर भी नहीं है। इसी कारण चाहे लोग सोचते हों कि आपकी पूजा करनेसे क्या मिलेगा? परन्तु ऐसी बात नहीं है। जब ज्ञान उपयोगमें होता है तो उपयोगके शुद्ध होनेके कारण कर्म समाप्त हो जाते और औरकी तो बात ही क्या, परमात्मापद तककी प्राप्ति हो जाती है। तुँग प्रकृति वाला महान् होता है। एक पदार्थ का दूसरे पदार्थसे कुछ सम्बन्ध न हो तब वह अकिञ्चन कहलाता है। मैं तो ज्ञाता स्वरूप हूँ, न मैं किसीका, न कोई मेरा, न मैं मरता हूं, न मैं जन्म लेता हूं, फिर इस

असार पृथ्वीपर जीनेकी क्या आशा करूँ ? जिसको जीनेकी भी आशा न रही, उसने समझो बहुत सी इच्छाओंका त्याग कर दिया। जब मोह, राग, द्वेष रहता है तब जीने की इच्छा होती है। जब जीनेकी इच्छा समाप्त हो जाती है फिर उसके रागद्वेषादि हों तो क्यों हों ? जब बाह्य पदार्थके मोहका अभाव न हो जानेकी इच्छाका अभाव नहीं होना। एक बूढ़ा आदमी था। उसके पुत्र, प्रपौत्र आदि सब कुछ थे। एक दिन वह अपने दरवाजेपर बैठा रो रहा था। एक साधु महाराज उधरसे निकले। उन्होंने पूछा 'भई तुम क्यों रो रहे हो ?' बूढ़ा उत्तर देता है कि महाराज, मैंने बड़े कष्ट सहन करके अपने पुत्रोंको इतना बड़ा किया है, सब तरहसे उनको सामर्थ्यवान् बनाया है। पुत्रोंके पुत्रों को भी लाड़ प्यारसे पाला पोसा और अब··· (रोकर) महाराज, वे सब मुझे खानेको दौड़ते हैं, गाली देते हैं और पीटते भी हैं, मेरी बड़ी दुर्गति बना रखी है उन्होंने। साधुने कहा, "भाई इसका तो सीधा-साधा उपाय हैं। तू इन सबका मोह छोड़कर हमारे साथ चल, तुझे किसी प्रकार भी कष्ट नहीं होगा।" बूढ़ा क्या उत्तर देता है सुनने लायक है। वह कहता है, 'महाराज यह तो सब ठीक है, परन्तु हैं तो वे हमारे पुत्र और प्रपौत्र ही व मैं उनका दादा बाबा। उनको कैसे छोड़ूँ। वे चाहे मुझे मारें या गाली दें, पर मेरी तो यही इच्छा है कि वे सुखी रहें।

आप बीचमें कौन दलाल होते हैं ? कृपया आप मुझे मेरी ही हालत पर छोड़ दें।' (हंसी) बस ऐसी ही दशा आज हमारी सबकी हो रही है। पिट कर भी, गाली सुनकर भी उनसे पृथक् नहीं होना चाहते। भीतरमें मोह, राग है, वह मिटता नहीं है, फिर उनसे अलग हों तो कैसे हों ? सोचना तो यह चाहिए–मैं तो ज्ञायक हूँ, अजन्मा हूँ, फिर जीनेकी आशाका त्याग कर असली स्वतन्त्रता क्यों न प्राप्त करूँ ?

जितने पाप होते हैं सब जीनेकी आशाके पीछे होते हैं। इस जीवको इस प्रकार सोचना चाहिए कि मेरा मरण नहीं होता, मैं सबसे न्यारा हूँ, तीन कालमें एक परमाणु भी मेरा नहीं हो सकता यह वस्तुका स्वरूप है, अणु सब स्वतन्त्र हैं, एकका स्वरूप दूसरेमें प्रवेश नहीं करता, मैं तो अदृश्य हूँ, देखने वाले लोग तो मेरे नाम और रूपको ही जानते हैं, मेरे चैतन्यस्वरूपको कौन देखता है, इसमें रूप नहीं, गंध नहीं, स्पर्श नहीं और रस नहीं, मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ तब असार पृथ्वीपर क्या कीर्ति चाहूँ ? इस प्रकार विचार करके जब वह कीर्तिकी भी आशा छोड़ देगा तो अपने द्वारा अपनेमें स्वयं सुखी होगा। साहित्यकारों ने लिखा है कि कीर्ति ठोकरें खाती फिरती है, एक ठिकाने बनकर नहीं रहती, किसी एक आत्माको चुनकर उसीके पास नहीं रही। इसका कारण केवल एक यही है कि जो

कीर्तिको चाहते है उन्हें यह कीर्ति नहीं चाहती और जिन्हें कीर्ति चाहती है वह कीर्तिको नहीं चाहते। इसलिए मैं कीर्ति की आशाका त्यागकर अपनेमें अपने द्वारा स्वयं सुखी होऊँ।

मैं तो ज्ञायक हूँ, अबन्ध हूं, अमूर्तिक हूं। जो कर्मोंका बन्धन होता है वह इन विचारोंसे ही होता है कि ये मेरे हैं 'पर' पदार्थोंने इस प्रकारका भाव किया कि वह बंध गया, दुनियाके अधीन हो गया। जिसकी मानलो आज सगाई हुई अभी शादी भी नहीं हुई वह युवक आज ही से उस लड़कीको अपनी पत्नी, उसके पिताको अपना श्वसुर, उस की माताको अपनी सास समझने लगता है। वह लड़की भी उसको अपना पति समझने लगती है। इसी विचार से वह उसी दिनसे पतिके आधीन हो जाती है। इसी प्रकार की परतन्त्रता अपने ही विचारोंसे हो जाती है। एक बार हमारी और बा० चंपालालजी सेठकी चर्चा हो रही थी। बीचमें एक मुसलमान भाई बोले—'इन्सान जिस समय पैदा होता है गुलाम नहीं होता। बच्चेको कोई फिक्र नहीं, आशा नहीं रहती इस तरह वह स्वतन्त्र रहता है। बादमें वह बड़ा होता है, उसका विवाह होता है, परिवार बढ़ता है, अपना पराया जानने लगता है तभीसे वह गुलामीमें जकड़ा चला जाता है' और उनका कहना इस तरह ठीक भी है क्योंकि जैसे-जैसे विषयाशा बढ़ती जाती है बंधन भी बढ़ता

है, अतः मैं विषयोंकी आशाका त्याग कर अपनेमें अपने द्वारा अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

आशाका त्याग ही मेरा बन्धु, मेरा रक्षक और मेरा पिता है। जिसकी निराशामें भी निराशा है ऐसे महान् आत्माकी तुलना नहीं की जा सकती। जिसकी मोक्षकी भी इच्छा नहीं उसकी महानताका मुकाबला कौन कर सकता है? इसलिए मैं निराशाका अवलम्बन करूँ और अपनेमें अपने द्वारा स्वयं सुखी होऊँ। एक मनुष्यके तीन पुत्र थे। बड़े सुन्दर परन्तु थे तीनों ही तोतले। जब उन्हें सगाईपर देखनेके लिए नाई आया तो पिताने समझा दिया कि तुम बोलना मत। नाई उन्हें देखकर बहुत प्रसन्न हुआ और उन की प्रशंसा करने लगा। प्रशंसा करते-करते उसने यह भी कहा कि देखो छोटे लड़के टोपी कितनी सुन्दर लगती है। बस छोटे लड़केको आशा हो गयी बड़प्पनकी और वह फौरन ही बोल उठा 'अधी क्या देक्खा है जब मैं बेलडार टोटी लडाकर बैठूंडा टब डेटना मुझे।' दूसरा लड़का भी बोल उठा 'डड्डा जब मना टर डये ठे टो टुम टयों बोले। बस तीसरे लड़केसे न रहा गया वह भी बोल उठा 'टुम भी बोले, और टुम भी पर डेठो मैं टुप ही हूँ।' बस नाई उन की बातें सुनकर वापिस चला गया। चौबे जी गये थे छब्बे जी होने और रह गये दुबे जी। इसी तरहसे जब हम चुप

रहते हैं, अपनेमें मग्न रहते हैं हम महान् हैं और जब हम बोल पड़े, क्योंकि हम हैं तोतले (इन्द्रियोंका उपयोग हमारा ठीक जो नहीं है) उन विषयोंके द्वारा महत्ता दिखानेको तैयार हुये तो बस हमारी दुर्गति हुई। कोई आजकल इसी में बड़प्पन समझता है कि नाजुक बने रहें, सुखिया बने रहें। नखरे दिखानेमें गौरव अनुभव करते हैं। 'न'—खरे अर्थात् जो अच्छे न हों। खोटी बात बनाना ही तो नखरे करना हुआ। भाई ! अगर मनुष्य शरीर पाया है तो इस को सुखिया स्वभाव मत बनाओ। इसको तपस्यामें लगाओ शरीरके सुखी (बेकार) होनेसे आत्मा सुखी नहीं होता और इसके दुःखी होनेसे आत्मा दुःखी नहीं होता। सुखी होने का उपाय तो केवल एक यही है कि भावोंको निर्मल रखा जावे। जहाँ शरीरमें अहंबुद्धि हुई कि शरीर ही मैं हूं, कषाय पैदा होने लगती है। क्रोध के मारनेका उपाय तो यह है कि क्रोधके स्वरूपको जान जायें। यह समझ जायें कि यह क्रोध आत्माका स्वभाव नहीं है, आत्मासे अलग भी किया जा सकता है। ऐसी श्रद्धा कर उसको हटानेका प्रयत्न करें, फिर कोई कारण नहीं कि वह समाप्त न हो जाये। इसी प्रकार और कषायोंके विषयमें भी समझना चाहिये। कषायवान् हर जगह निरादर होता है। क्रोधीसे कोई बात नहीं करना चाहता। मानीसे दूर ही रहना चाहते हैं, कपटी को कोई अपने पास बैठाना भी नहीं चाहते और लोभीके विषयमें तो यहाँ तक भी कह दिया जाता है कि अगर लोभका

सुबह-सुबह मुँह देख लिया जाय तो शाम तक खाना भी न मिले। अतः कषाय बहुत बुरी चीज है। कषायका त्याग करना चाहिये और कषायका मूल कारण है 'आशा'। अतः आशाका त्याग ही सर्वोपरि है और इस ही का त्याग कर हम अपनेमें अपने द्वारा स्वयं सुखी हो सकते हैं।

'श्री सहजानन्द गीता' प्रवचन

[दिनांक ४–११–१९५२]

अहं स्वं जन्मृत्यादि सुखं दुःखं नयाम्यहम्।
मुक्तौ नेता गुरुस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।१।३।

हमारी जितनी भी अवस्था हैं सुखकी, दुःखकी, जीवन की, मरणकी सबमें ले जाने वाला मैं ही तो हूँ। अतः मैं ही अपना गुरु, अपना नेता हूं। इसलिए मैं अब अपने ही में अपनेको क्यों न लगाऊँ ? ऐसा करनेसे ही मैं अपने द्वारा अपनेमें अपने लिए स्वयं सुखी हो सकता हूँ। राजा भोज का समय था। एक कविने विचार किया कि बहुत दिनोंसे राजाके यहाँसे कोई इनाम नहीं मिला। ऐसा सोचकर वह राजाके महलमें चोरी करनेके लिये गया और राजाके पलंग के नीचे ही छिपकर बैठ गया। रात्रिमें राजा विचारता है और कविता बनाता है 'चेतो हरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलाः। सद्बान्धवाः प्रणतिगर्भगिरश्च भृत्याः।। गर्जन्ति दन्तिनिवदास्तरलास्तुरङ्गा।' अर्थात् मेरे स्त्री भी सुन्दर है, मित्रगण भी मेरे अनुकूल हैं, हाथी भी बहुत हैं, घोड़ोंकी गर्जना होती रहती है। इस प्रकार अपने वैभवका विचार करते

हुए उसने तीन चरण तो बना लिए, परन्तु चौथा न बन सका। तब उस चोर कविसे न रहा गया। झट बोल उठा–'संमीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति' अर्थात् महाराज ! आँखोंके मिचने पर, तो कुछ भी नहीं है। सो भैया ! हृदय में विचारो तो आंखोंके मिचनेपर, आत्माके इस शरीरसे निकल जानेके बाद रह ही क्या जाता है ? इसलिए इस संसारी वैभवमें ममत्व नहीं करना चाहिये। यह ममत्व ही संसारका मूल है। अब तो यही उचित है कि इस प्रकारका सम्यक्ज्ञान अपनेमें जागृत करो कि मैं तो एकाकी हूँ, सबसे भिन्न हूँ, कोई मेरा नहीं है।

बताओ क्या आपको शरीर इष्ट है ? क्या आप चाहते हैं कि बार-बार शरीर मिलता रहे ? तो इसका भी एक नुस्खा है और अगर इस शरीरको बुरा समझते हो और उससे छूटना चाहते हो तो उसका भी एक बढ़िया नुस्खा है। शरीर में आत्म-बुद्धि करते जाओ, ये शरीर मेरा है, बस शरीर मिलता जायेगा और अगर शरीरसे छूटना चाहते हो तो इस प्रकार विचार करो कि शरीर-शरीर है, मैं मैं हूँ, अर्थात् मैं आत्मा हूँ, शरीर पुद्गल है, मैं चेतन हूँ, शरीर जीर्ण, शीर्ण हो जाता है, मैं जीर्ण, शीर्ण नहीं होता। उर्दू में अगर शरीरमें बड़े 'श' की बजाय छोटा 'स' लगा दिया जाये तो सरीर बन जाता है, जिसका अर्थ है 'बदमाश'। सो भैया ! यह शरीर

बहुत बदमाश है। चाहे इसे कितना ही खिलाओ, पिलाओ, सदा इससे मल ही, दुर्गन्धित वस्तु ही निकलती रहती है। इस प्रकारकी भावना निरन्तर आनेसे एक दिन ऐसा आयेगा कि शरीरका सम्बन्ध ही समाप्त हो जायेगा अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति हो जायेगी। पिछले भवमें जो मेरा परिवार था उसमें मोहका कितना विकल्प बढ़ाया, अन्त समयमें वह भी छूट गया। यह जो कुछ सम्बन्ध मिला है कितनी देरका है ? यह भी तो छूटेगा ही। ऐसा विचार कर तो यही श्रद्धा रखना ठीक है कि मैं तो ज्ञानमात्र बुद्धिवाला होऊँ और अपने द्वारा, अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

परपदार्थमें आत्मबुद्धिकी भ्रान्तिसे बहुत क्लेश होता है। क्लेश मिटानेका एकमात्र उपाय है–यह भ्रान्ति दूर करना अर्थात् आत्माको परपदार्थसे भिन्न श्रद्धा करना। भ्रान्तिजन्य क्लेश मिटाना बहुत कठिन है। बाह्य परपदार्थ में सुखका भ्रम जब हो जाता है कि अमुक पदार्थसे सुख होता है, अमुक पदार्थ सुखका देने वाला है, इस भ्रमसे पैदा होने वाला क्लेश कभी मिट नहीं सकता। चाहे कितने ही सम्बन्ध हो जायें, स्त्री हो जाये, पुत्र हो जाये, वैभव हो जाये, यदि यह श्रद्धा है कि मैं इनसे सुखी होता हूँ तो ऐसी श्रद्धा करने वाला मनुष्य सदा दुःखी ही रहेगा। मेरा तो यही कर्तव्य है कि अपने यथार्थस्वरूपकी श्रद्धा करूँ। यथार्थ स्वरूप क्या ? मैं तो स्वतन्त्र, एकाकी, सबसे भिन्न हूँ, सब

पदार्थ अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे परिणमते हैं, एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कुछ नहीं कर सकता, न उससे कुछ ले सकता है, न कुछ उसे दे सकता है। इस प्रकारका सम्यक्ज्ञान हो तो मैं अपनेमें अपने द्वारा, अपने लिए स्वयं सुखी हो जाऊँ।

अन्य पदार्थ तो अन्य होनेसे दुःख ही हैं। निज आत्मा निज होनेसे सुख ही है। आत्मासे भिन्न जो भी पदार्थ हैं वह अन्य हैं, आत्मासे अलग हैं अतः दुःख है। जितने भी पदार्थ हैं वह सब विभाव उत्पन्न होनेके कारण होंगे। स्वभाव विकासका कारण तो निज-मग्नता ही है। समबसरणमें साक्षात् भगवान् को भी देख रहे हैं, उनकी वाणी भी सुन रहे हैं, परन्तु जब तक देखनेपर व सुननेपर उपयोग रहेगा तो विभाव ही रहेगा और जब उससे उपयोग हटकर अपने पर दृष्टि आवेगी तब ही सुख है, तब ही स्वभाव विकास है। स्वभाव विकासका कारण परपदार्थ हो ही नहीं सकता। हम परमेष्ठीका दर्शन करते हैं, पूजन करते हैं फिर यह सब क्यों है? अरे भैया! ये तो सब निमित्त मात्र हैं उस शुभोपयोग पैदा करनेमें, जो कि शुद्धोपयोग (जो आत्माका स्वभाव हैं) को लानेमें निमित्त कारण पड़ते हैं। अतः कर्तव्य है कि निजके सत्य प्रयोजन में प्रयत्न करूँ और अपनेमें अपने द्वारा, अपने लिए, अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

ज्ञानीके तो एक आत्मप्राप्तिकी स्पृहा होती है। ज्ञानीसे कोई पूछे कि क्या चाहते हो तो वह यही उत्तर देगा 'मुझे तो आत्मलाभकी इच्छा है, राग, द्वेष, मोहसे दूर ज्ञानकी स्थिति पा लूं यही चाहता हूं और कुछ नहीं। यदि बाह्य पदार्थकी इच्छा करुंगा को उनमें ममत्व परिणाम होनेके कारण रुलता ही रहूँगा। आत्म लाभसे अन्य जगहमें मेरी बुद्धि न जाये यही मेरी इच्छा है। मेरे राग, द्वेष, मोह, कषायका परिणाम नाश हो यही मैं चाहता हूँ' हितका चाहने वाला भी मैं हूं, हितका जानने वाला भी मैं हूं और हितरूप प्रवृत्ति करने वाला भी मैं ही हूँ, इसलिये अपनी सब अवस्थाओंका गुरु मैं ही हूँ। इसकी ही छत्रछायामें सुख है। अन्यत्र जो सुखकी बुद्धि करना है कि ये मुझे सुखी करते हैं, जीवन व्यर्थ खोना है। बड़ी कठिनाईसे यह मनुष्य भव पाया है और इसको यूं ही परपदार्थोंमें राग बढ़ाकर, मोह बढ़ाकर व्यर्थ ही मत खोओ। भैया! राजा भोज थे। चार देहातियोंने मिलकर सोचा कि कोई कविता बनाकर राजा को सुनायें और इनाम पायें। चारों चले। मार्गमें एक बुढ़िया राँटा अर्थात् चरखा चला रही थी। उनमेंसे एक बोला कि लो भाई एक चरण तो कविताका बन गया। क्या? 'चनर मनर, राँटा मन्नाय'। कुछ दूर चलनेपर कोल्हूका बैल भुस खाते हुए दिखाई दिया। दूसरा झट बोल उठा 'कोल्हूका बैल खरी भुस खाय'। आगे एक पींजन

(तरकस सा) लिए कोई आ रहा था। तीसरा बोला 'वहांसे आगये तरकस बन्द'। चौथेने कहा भई हम तो आशु कवि हैं, दरबारमें ही कविता कहेंगे। चारों पहुँचे दरबार में। तीनोंने अपने-अपने चरण कहे। पहिला बोला—'चनर मनर, रांट मन्नाय'। दूसरा बोला—कोल्हूका बैल खरी भुस खाय'। तीसरा बोला—वहाँसे आगये तरकस बन्द। अब चौथेको कुछ न सूझा सो बोल उठा—'राजा भोज हैं मूसरचन्द'। वहां बैठे विद्वानोंसे उनकी कविताका अर्थ लगानेको कहा गया। एकने उत्तर दिया 'महाराज! ये कहते हैं कि शरीरका रांटा चनर मनर चल रहा है, जूँ तूँ करते जीवन गुजर रहा है और यह आत्मा पर-पदार्थमें राग बढ़ा-बढ़ाकर कोल्हूके बैलकी तरह संसारमें चक्कर लगा रहा है कि अचानक ही तरकस बन्द यानी यमराज आ धमकेगा, इस पर भी राजा भोज नहीं चेतते और मूर्ख-राज ही बने हुए हैं।' तो भैया! बात भी सच है। जब हम बाह्य पदार्थोंमें ही विकल करते रहते है तो हम मूसर-चन्द नहीं तो क्या हैं? पर-पदार्थमें ही ममत्व बढ़ाकर दुःखी हो रहे हैं। कभी इस आत्माकी सुध नहीं ली। थोड़े। समयके लिए यह मनुष्य भव मिला है। इसके बाद न मालूम क्या-क्या हो जायें, पशु हो जायें, नरकमें चले जायें निगोदमें चले जायें। न मालूम क्या अवस्था हो हमारी? मनुष्य-जन्म अमूल्य है। पशुओंमें श्रेष्ठ मन नहीं होता है,

नारकियोंमें भी नहीं होता, देवोंमें संयम नहीं है। इस पर भी वे सम्यक् प्राप्त कर लेते हैं और हम हैं कि सब कुछ सामर्थ्यवान् होते हुए भी विषयांध हुए अपने जीवनको बेकार खो रहे हैं। यदि हमें विवेक हो जाये, हित अहित का ज्ञान हो जाये तो एक दिन हम ही तो परमात्मा बन सकते हैं।

ज्ञान जानता किसे है? लोगोंको दीखता है इसने यह जाना, इसने चौकी जानी, लालटेन जानी इत्यादि। परन्तु यदि विचारो तो मालूम पड़ेगा कि ज्ञान तो केवल ज्ञानको ही जानता है, बाह्यको नहीं। दर्पणमें ५० वस्तुएँ झलकती हैं, हम दर्पणको बता सकते हैं यह झलका वह झलका। इसी प्रकार ज्ञानमें सब ज्ञय आते हैं, परन्तु ज्ञान तो केवल ज्ञानको ही जानने वाला है। उसका काम उसमें ही होता है। जैसे आम आज खट्टा है, कल मीठा होगया तो उसका रस उसमें ही बदला, बाहरसे कोई उसमें आ जाये सो बात नहीं है। आत्मामें दर्शन, ज्ञान, चरित्र है! उनका परिणमन आत्मामें ही होगा, अपनेसे बाहर नहीं हो सकता, ज्ञानका काम केवल, ज्ञानका जानना है। जब ज्ञान परपदार्थका जानना नहीं कर सकता, फिर स्वस्वामिताका भाव ही कहाँ रहा? मैं तो अद्वैत हूँ, एकाकी हूँ, स्वतन्त्र हूँ—इस प्रकारकी बुद्धि रखता हूँ, अतः अपने लिए अपने द्वारा स्वयं में स्वयं सुखी होऊँ।

जाननेमात्रकी दशामें अर्थात् ज्ञान दशामें दुःख नहीं। जब ऐसी अवस्था हो जाती है तभी निर्जरा होती है। तपस्यामें भी चाहे शरीरको कितना ही कष्ट क्यों न दो, अगर यथार्थ स्वानुभव नहीं है तो वह तप भी कर्मोंकी निर्जरा करनेमें असमर्थ है। आत्मीयज्ञानपरिणतिसे निर्जरा होती है। जब आत्मिक आनन्द आ जाता है तब निर्जरा होती है। जब बाह्य पदार्थका विकल्प हट जाता है कि ये मुझमें कुछ कर सकते हैं तब ही कर्मोंकी निर्जरा होती है। मैं ज्ञानमात्र ही तो हूं, फिर अपनेको दूसरी तरह जानकर, दूसरे प्रकार श्रद्धा करके क्यों आकुलित होऊँ, क्यों दीन बनूं ? मैं तो ज्ञानमात्र हूं–ऐसी ही श्रद्धा करूँ और अपनेमें अपने द्वारा अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

मैं जिसकी उपासना करता हूं वही मिल जाता है और मैं बाह्यकी उपासना कर भी नहीं सकता हूं। मैं तो केवल अपनी ही उपासना कर सकता हूँ। जब अपनी उपासनामें भगवानको विषय बनाता हूँ तो कहा जाता है कि भगवान्की पूजा कर रहा हूँ। यदि शुद्ध आत्माकी उपासना करूँ तो शुद्ध अर्थात् परमात्मा बन सकता हूँ और अगर अशुद्ध अर्थात् राग, द्वेष, मोहयुक्तकी उपासना करूँ तो रागी द्वेषी, मोही ही बन बनकर संसारमें परिभ्रमण करता रहूँगा। 'कल्याण' में एक कथा है। एक मनुष्य जंगलमें जा रहा था। धूप बहुत पड़ रही थी। वह थक

कर एक पेड़के नीचे बैठ गया। वह पेड़ था कल्पवृक्ष, परन्तु उसे ज्ञान न था। वह विचार करने लगा कि बड़ी प्यास लगी है कहींसे पानी मिलना चाहिए। बस विचार तो था कि तुरन्त ही पानी आगया। इसी प्रकार जब खाने की इच्छाकी खाना आ गया। जिस चीजकी इच्छाकी वही उपस्थित होगई। फिर उसने सोचा अरे ऐसा मालूम होता है कि इस पेड़ पर तो कोई भूत रहता है। बस ऐसा विचारते ही भूत सामने आगया। अरे कहीं यह खा न जाये, ज्योंही उसने ऐसा सोचा कि भूत उसे खा गया। भैया ! है तो यह कथानक ही, परन्तु आत्मा वास्तवमें ऐसा ही कल्पवृक्ष है। अगर इसको कुसंगतिमें लगाओ तो वैसा बन जाये। रागी का ध्यान करो रागी बन जाये। मोहीका ध्यान करो मोही बन जाये और अगर शुद्ध स्वभाव हो जाये परमात्मा हो जाये, इसलिये मेरा कर्तव्य है कि शुद्ध स्वभाव वाले कर्मोंसे रहित आत्माका ही ध्यान करूँ ताकि मैं भी एक दिन वैसा ही बन जाऊँ।

अब प्रश्न यह है कि अन्तरात्माकी चीज प्राप्त कैसे हो ? इन्द्रिय और मनको संयम करके इसकी प्राप्ति होती है। इन्द्रियोंका कार्य बन्द करो। किसी वस्तुको खानेको जी चाहता है मत खाओ। सूंघनेको जी ललचाता है मत सूंघो। इसी प्रकार स्पर्श, चक्षु और श्रोत्र इन्द्रियके विषयोंसे भी दूर रहो। इस तरहसे सब तरफसे मनको हटाकर,

निर्विकल्प होकर अन्तरात्माका अनुभव करो, और अपनेमें अपने द्वारा अपने लिए स्वयं सुखी होओ।

पर भाई हमारी दशा तो लड्डूके मच्छर जैसी हो रही है कि खाते भी नहीं बनता और छोड़ते भी नहीं बनता। वास्तवमें संसारके तमाम पदार्थ हम भोगना चाहें तो भोग भी नहीं सकते। हम तो केवल कल्पना ही को भोगते हैं। परन्तु परपदार्थोंको छोड़ना भी हम नहीं चाहते। संग्रह ही करते रहते हैं। पर जब इन पदार्थोंसे ममता हट जाती है तो सुखका अनुभव होने लगता है।

क्लेश भी भावनासे पैदा होता है और 'शिव-सुख' अर्थात् मोक्ष सुखकी प्राप्ति भी भावनासे होती है 'भावना भवनाशिनी, भावना भाववर्धिनी'। इसलिये शुद्धस्वरूप आत्माकी ही भावना करना योग्य है।

समस्त प्राणियोंमें सारभूत तत्व क्या है? 'ज्ञानमात्र भाव'। ज्ञानी उस तत्वको पहिचान लेते हैं और अज्ञानी नहीं पहिचानता। जैसे किसीकी गठरीमें लाल बंधा हो और उसे पता नहीं हो और वह दरिद्री बना भीख ही मांगता फिरे। इसी प्रकार आत्मामें ज्ञानतत्व है, पर उस पर हमारी दृष्टि नहीं है और हम अपनेको पर पदार्थोंके आगे भिखारी और दीन बनाये हुए हैं। दृष्टि पहुँची उस ज्ञानमात्र तत्त्व पर कि हम सुखी हुए।

राग, द्वेष, मोहरहित परिणाम होना यही महान् यज्ञ

है। यही पूजा है। यही स्वाध्याय है। दिन रात भगवान्‌की पूजा करते हैं और भगवान्‌के बताये हुए एक भी उपदेश पर नहीं चलते तो क्या यह भगवान्‌की पूजा है? अरे भाई! मोह छोड़ो, ममता छोड़ो, राग छोड़ो, निजको निज, परको पर जानो, यथार्थ ज्ञान करो हो कल्याण हो। यह तो करते नहीं, बातें ही मिलाते रहते हैं कि इस अभक्ष्यका त्याग किया, वह छोड़ दिया, यह छोड़ दिया। भाई! केवल इससे ही तो काम नहीं चलेगा। मोह, रागका त्याग किये बिना कर्म निर्जरा न होगी। अरे भाई! इन चीजोंका त्याग तो राग, द्वेष, मोह, कषायको कम करनेके लिए था और कषाय कम हो तो अभक्ष्यमें प्रवृत्ति नहीं होती। इन चेष्टाओंसे कल्याण थोड़े ही हो जाता है, कल्याण तो ज्ञानमात्र परिणमन ही है। राग, द्वेष, मोह, कषाय छोड़नेके लिये अपनेको मुसाफिर समझो कि कितने दिनके लिये यहाँ रहना है? अपने घरवालोंसे भी मोह छुड़ाकर घरका वातावरण धार्मिक बनाओ। राग, द्वेष, मोहको हटानेका भाव हरएकमें आ जाये ऐसा उपदेश दो। 'बाह्य पदार्थ मेरा क्या साथ देंगे' यह भाव अपनेमें पैदा करो और घरके और लोगोंमें भी पैदा करो। यह भी गृहस्थीको सुखी बनानेका उपाय है।

❀❀

(८)

'श्री सहजानंद गीता' प्रवचन

[दिनांक ८–१२–१६५२]

यौवनं जरया व्याप्तं शरीरं व्याधिमन्दिरम् ।
समृत्यु जन्म कः सारः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥३॥

यौवन अवस्था बुढ़ापेसे व्यापत है अर्थात् जवानीके बाद बुढ़ापा नियमसे आता ही है । शरीर रोगोंका घर है । जन्म, मरणसे सहित है । जो जन्मा है नियमसे मरेगा । मरण अच्छी चीज है क्योंकि इसके बाद अवकाश है अर्थात् जन्म हो अथवा न भी हो । जैसे रामचन्द्र जी व हनुमान जी आदि, जिनको मरणके बाद जन्म ही धारण नहीं करना पड़ा और मोक्षमें जा विराजे । इस प्रकारका मरण 'पंडित-मरण' कहलाता है । 'पंडित-मरण' 'समाधि-मरण' अथवा 'पवित्र-मरण' कहा जाता है । परन्तु जन्मको कोई भी समाधि-जन्म नहीं कहता । जन्मके समयमें भी किसीके पवित्रता हुई है क्या ? जिसमें समाधि, पवित्रता और शांति हो, जिसके द्वारा पार हों वही तो उत्सव है । अतः मरण ही उत्सव है । परन्तु संसारी लोग मरणका उत्सव नहीं मनाते और जन्मका मनाते हैं और मरणका उत्सव भी मनाते हैं तो उन बूढ़े बुढ़ियों का जिनके पोते पड़पोते हो चुके हैं अर्थात् जिन्होंने तीन-तीन चार-चार पीढ़ियोंका मोह अपने अन्दर बसा रखा है।

गृहस्थ धर्म भी एक धर्म ही तो है । तेजीसे वीतराग परिणतिमें जाये वह तो मुनि धर्म और मंद मंद गतिसे जाये वह गृहस्थ धर्म है । गृहस्थीको चाहे ऐसा लगता हो कि धर्मको कैसे निभायें, यह तो त्यागियोंका काम है जिन्होंने घर वगैरह सब कुछ छोड़ दिया है । त्यागी कहते हैं कि भाई गृहस्थीमें रहकर धर्म करें तो निर्विघ्न पूर्ण होगा और भैया ! मुझसे पूछो तो मैं भी प्रायः यही कहूंगा क्योंकि जिन्होंने घर छोड़ दिया उनका और गृहस्थियोंका आज मुकाबला करके देखो तो प्रायः ऐसा ही झलकेगा कि गृहस्थियोंको क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय कम है । अधिकांश त्यागीको जरासी बात कह दो झट गुस्सा आ जाता है । मानका उदय तो वहाँ बना ही रहता है क्योंकि वह 'त्यागी' है न ? मैं यह कोई व्याप्ति नहीं बनाता, परन्तु प्रायः ऐसा देखनेमें आता है । गृहस्थ यदि अच्छी तरह रहे तो सब कुछ निभा सकता है । जिसके सब प्रकार की सम्पत्ति है वह भी सब कुछ होते हुए ऐसी प्रवृत्ति बना सकता है । उसकी किसी प्रकारकी भी इच्छा न रहे। अगर हम किसीसे कहें कि भाई रात्रि भोजन न करनेका नियम ले लो तो झट उत्तर मिलता है–अजी हमने तो सालों से रात्रि भोजन नहीं किया, परन्तु अगर नियम ले लेंगे तो आज ही रातको भूख लग आयेगी । बस यही कमजोरी है । अरे गृहस्थीमें रहकर तो भावोंमें योग्यतानुसार बहुत ही ऊँचे

दर्जेकी पवित्रता आ सकती है क्योंकि वहाँ पर दया आदिके अनेक अवसर प्राप्त होते रहते है। व्यापार धन्धेमें रात दिन संलग्न रहते हुए भी 'सत्यता' पूर्ण अंशोंमें निभ सकती है, केवल जरा दृढ़ रहनेकी आवश्यकता है। 'वैराग्य प्रकाश' में एक कथा है कि एक छोटा सा दुकानदार नदी किनारे दुकान करता था। सत्यतासे व्यापार करता और बाकी का समय धर्म ध्यानमें व्यतीत करता था। एक दिन एक साधुने उसकी सेवा से प्रसन्न होकर उसको ऐसी चीज प्रदानकी, जिससे सोना बनाया जा सकता था। एक सालके बाद फिर वही साधु आये और जब उस दुकानदारकी वही हालत देखी तो बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने कहा--'भाई मैं तो तुझे सोना बनाने वाली चीज दे गया था।' उसने जवाब दिया--'महाराज मुझे सोनेकी आवश्यकता नहीं, मैं तो सत्यताके साथ व्यापार करता हूँ, सबको ठीक तौल कर सौदा देता हूँ। जो कुछ है-बस यह मेरी तराजू ही है।' साधुने तराजू ली और जिस चीजसे उस तराजूको छुआया, वही सोनेकी बन गई। साधु शर्मिंदा होकर चला गया। मनुष्यको सत्यतासे व्यवहार करने पर जो प्राप्त हो जाये, उसीमें उसको संतुष्ट रहना चाहिये। भाई ! सत्यताके बरतावपर डट तो जाओ कुछ न आवे न सही। दो चार दिनसे काम नहीं चलेगा। सदा ही एक ही बात बोलो तो उसका विश्वास जरूर हो जायेगा। क्षणभंगुर जीवनमें अच्छी

अच्छी बातें कहते ही रहेंगे, करेंगे कब ? जब जीवन समाप्त हो जायेगा तब। इसी प्रकार गृहस्थी अचौर्य व्रतका पालन भी कर सकता है। परके अधिकारको चीजोंको हड़प न करें, टैक्स वगैरहकी चोरी न करें। व्यसनमें तो 'परकीय' चोरीका त्याग कराया गया है, परन्तु अणुव्रतोंमें तो अति-चार भी नहीं लगने चाहियें। जैसे ब्रह्मचर्य व्रतमें सब स्त्रियोंका त्याग हो जाता है। यही नहीं अपनी स्त्रीके प्रति भी बुरे विचार हृदयमें नहीं आते। परिग्रह परिमाण व्रतमें संतोष रहता है। पांचों पापोंका त्याग करनेसे गृहस्थीमें सुख होता है। इनके त्यागके बिना गुजारा नहीं। जीवनमें दृढ़ता करके देखो और दृढ़ता जब हो सकती है जब हर समय यह ध्यान रहे कि मृत्युने तो हमें केशों से पकड़ रखा है, किसी भी समय मृत्यु आ सकती है। जितना जीवन मिला है, पांचों पापोंकी निवृत्ति करता हुआ व्यतीत करें। यहाँ भी सुख होगा और परलोकमें भी।

निर्मोही गृहस्थ भी मोक्ष मार्गमें स्थित है और मोही मुनि भी मोक्षमार्ग में स्थित नहीं है। अगर गृहस्थके भाव ठीक हो जायें तो आज त्यागीसे कम नहीं। निम्न पदमें रहकर अगर परिणामोंमें पवित्रता आ जावे तो वह उचित फलीभूत हो जाती है। इसके विपरीत अगर उच्च पदमें रहकर निम्न बात, निम्न आचरण करता रहे तो उसका विकास नहीं होता। गृहस्थ तो अपना वह आदर्श बना

सकता है कि इस भवमें भी सुखी रहे और परभवमें भी।

विषयभोग और इन्द्रिय सुख कैसे हैं ? विषको पीकर चाहे कोई भले ही जिन्दा रह जाये, परन्तु विषयभोग भोग-कर जीवित नहीं रह सकता। अगर खानेका आनन्द लेना चाहता है तो खानेका त्याग करना ही पड़ेगा। यदि खाते ही खाते रहें तो एक समय ऐसा आयेगा कि बीमार पड़ जायेंगे और खाना छोड़ना ही पड़ेगा। इसी तरह यदि बढ़ियासे बढ़िया इत्रको सूँघते ही रहें तो उससे भी अरुचि हो जायेगी। बढ़ियासे बढ़िया दृश्य देखते रहनेपर आँखोंको बन्द करनेकी इच्छा हो ही जाती है। सुन्दरसे सुन्दर गानेको भी एक दो बारसे अधिक सुननेको जो नहीं चाहता। इस प्रकार जब इन्द्रियोंके विषयोंका आनन्द लेनेके लिए उनके त्यागकी आवश्यकता है तब आत्मिक आनन्दके लिए तो इनके त्यागकी आवश्यकता है ही। व्यापारमें भी जिसका चित्त बढ़ा हुआ है अर्थात् जो रिस्क लेना चाहता है, वही लाभ उठा सकता है। इसी प्रकार यहाँ भी जो विषयोंके त्यागमें अपना हृदय दृढ़ रखते हैं उनको आत्मिक आनन्द अवश्य प्राप्त होगा। जब त्याग करने पर अद्भुत आनन्द प्राप्त हो जाता है तो मैं भी विषयोंसे निवृत्त होकर अपनेमें अपने द्वारा अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ। एक अचरज तो देखो भाई ! यमराजके तो समता हो गई क्योंकि चाहे बाल हो, युवा हो, किंवा वृद्ध हो वह समभावसे सबको ले

लेता है हड़प लेता है (लोगोंमें ऐसी लोकोक्ति है कि मृत्यु के समय यमराज पकड़ कर ले जाते हैं)। परन्तु समताका पज जो 'मैं' हूं मेरे समता न होवे, यह आश्चर्यकी बात है।

असंतोष ही दरिद्रता है। अगर गृहस्थके असंतोष तृष्णा न हो तो वह आदर्श बन जाये। भरत चक्रवर्ती घरमें रहते हुए भी उदास थे लिप्त न थे, तभी तो उनकी आज तक प्रशंसा है। इसी तरह जो मनुष्य घरमें रहता हुआ भी उदास रहे, पुण्यके उदयसे प्राप्त धन, वैभव, स्त्री पुत्रादिमें मूर्च्छा न करे तो उसका दर्जा इतना ऊँचा है कि उसको देखकर तो बहुतसे जीव सुधर जायें। अगर समाजमें बड़े कहलाने वाले लोग प्रैक्टिकल व्यवहारिक हो जायें तो उनकी देखा-देखी और भी बहुतसे लोग त्यागी हो जायें।

रागद्वेषके माने संसार है। आपको अपनेसे यह प्रश्न करना चाहिये कि संसारमें आप बस रहे हैं या संसारको आपने अपनेमें बसा रखा है ? लोग कहते हैं यह जो क्षेत्र दीखता है यह दुनिया है। दुनियाका अर्थ है 'दो' नय। अर्थात् तरकीबसे चले। क्षेत्रका नाम संसार नहीं है। संसार तो राग द्वेष है। यह रागद्वेषका संसार दुःखसे भरा है। संसारमें रहनेसे हानि नहीं। और बताओ भैया संसारसे बाहर जायें भी कहां ? सिद्ध भी तो जहाँ तक है वहीं तक जाते हैं। अरहंत भी तो इसी संसारमें रहते हैं। परन्तु परेशानी तो यह है कि हमने अपनेमें संसार बसा रखा है।

अपनी करतूतसे अरुचि नहीं तभी तो संसारमें भटक रहे हैं और यही बात तो दूसरोंसे कह लेते परन्तु अपनेसे नहीं कहते। जो मैं करता हूँ यह भी मेरा स्वभाव नहीं है अर्थात् अपनी करतूतसे अरुचि हो जाये बस यही तो करना और कुछ नहीं। बस जितने भी हम विकल्प परपदार्थोंमें करते रहते हैं उनसे अरुचि हो जाये और जो मेरा ज्ञानानंदमय स्वभाव है वह प्रकट हो जाये। दुनियां कुछ कहे, मेरे एक ज्ञायकभावकी सिद्धि हो जावे, चैतन्वस्वभाव पर रुचि हो जावे। जिसके ऐसा हो जाये वह प्रशंसनीय है। राग द्वषसे पैदा होने वाली पर्यायका नाम लोगोंने संसार रख दिया।

दुनियाँमें कौन चीज अपवित्र है? कौवेकी बीटको लोग अपवित्र कहते हैं, परन्तु सोचो तो उसको अपवित्र बनाया किसने? रागीद्वेषी। हाड़, माँस, खून क्या अपवित्र हैं? अरे भाई! वे तो शुद्ध परमाणु थे, परन्तु जब उनका संसर्ग इस रागद्वेषी आत्मासे हुआ वे अपवित्र बन गये। लोकमें ऐसा होता है जो छूने लायक न हो उसे जो छू ले वह अशुद्ध हो जाता है जिसको छूनेसे यह हाड़, माँस आदि अपवित्र हुए उसे पकड़ते नहीं। रागद्वेषसे अरुचि पैदा होना चाहिये। जिसने मुझे भ्रमा रखा है, दुःखी कर रखा है, उससे अरुचि पैदा हो जाये ऐसी भावना रखे। अपनी

सांसारिक करतूत अपनेको न सुहावे। मुनियोंको तो देखो वह तो धर्म ध्यान ही करते रहते हैं। पर वहाँ भी यही चलता है कि उनको अपनी करतूत नहीं सुहाती। योगी कहता है कि जो भी मैंने किया वह अज्ञानमय चेष्टा थी। वह चाहे ध्यान करें, पूजा करें, आलोचना करें, प्रतिक्रमण करें, परन्तु सोचते हैं कि यह सब मेरी अज्ञानमय चेष्टा ही तो है। परन्तु इसके विपरीत हम हैं कि क्रोध करते हुए भी अपनी गलती नहीं मानते और सोचते हैं कि उसने क्रोध दिलाया, इसने दिलाया। जिस समय हमने धन कमा अपने हाथ पर रखा उस समय यह अटपटा सा लगने लगे कि हम क्या कर रहे हैं, ऐसे भाव होने चाहियें। रागद्वेष संसार है। इस दिखने वाले संसारका मूल कारण जो संसार-रागद्वेष है उसका त्याग करके अपनेमें अपने द्वारा अपने लिये, स्वयं सुखी होऊँ।

ऐसी कोई योनि, देश, कुल नहीं जिसे रागके आधीन होकर न पाया हो। अभव्य या द्रव्यलिंगी मुनि भी इतनी बार द्रव्यलिंगी बना रह सकता है कि अगर उन पर्यायोंमें होने वाले उस मुनिके यदि एक-एक कमंडलुको एकत्रित किया जाये तो मेरु पर्वत जैसा ढेर लग जाये। मैं कितनी बार राजा महाराजा धनपति कुबेर हुआ इसकी कोई गिनती नहीं। हम उसकी बात नहीं कहते जो अभी ही कुछ समय

से निगोदसे निकला हो। सोचो कि अब मैं इस थोड़ी सी चीजमें जो-जो मुझे प्राप्त हुई है क्या राग करूँ ? इसलिये अब तो यही अच्छा है कि राग छोड़कर अपनेमें, अपने द्वारा, अपने लिये, स्वयं सुखी होऊँ।

यहाँ तो जुए जैसी बाजी है। यदि जुएमें कोई हार भी जाये तो लोग कहने लगते हैं 'अजी बस हो लिये इतना ही दम था' इत्यादि और उसे वहाँसे उठने ही नहीं देते। इसी प्रकार यहाँ पर भी यदि कोई धर्म साधन करना चाहता है तो लोग उसे भगत जी कर चिढ़ाने लगते हैं और वह है कि चटसे फिसल पड़ता है। अरे भाई! यदि आत्मकल्याण करना है तो तेज हृदयका बनना होगा। यही दृढ़ता आनी चाहिये कि चाहे संसार मुझे कुछ भी कहे तो भी अपने ही को देखना है। मेरा काम तो मेरेसे ही पूरा पड़ेगा। इतनी दृढ़ता आने पर ही धर्मका पात्र होता है और अगर लोगोंके कहनेसे फिसल जावे और फिर तृष्णामें फंस जावे तो धर्म उससे बहुत दूर हो जाता है। जो स्थिति इस समय हमारी है, अगर हमें उसीमें संतोष नहीं तो भविष्यमें होने वाली स्थितिमें तो संतोष होना असम्भव ही है।

बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहमें तो भैया दुःख ही दुःख है।

तत्वार्थ सूत्रमें भी कहा है—'अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य' अर्थात् अल्प आरम्भ, अल्प परिग्रहसे मनुष्य

आयुका बंध होता है और 'बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकास्यायुष' अर्थात् बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहसे नरक आयुका बंध होता है।

'माया तैर्यग्योनस्य' अर्थात् मायाचार तिर्यच आयु बंधनेमें कारण है और 'सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जरा बालतपांसि दैवस्य' अर्थात् सराग-संयम, संयमासंयम, अकाम निर्जरा, बालतप, देव आयुका बंध करते है।

सम्यग्दर्शन रहते अगर किसी आयुका बंध होता है तो देवायुका ही होता है। सम्यग्दर्शन रहते अगर किसी नारकीके आयुबंध होता है तो मनुष्यायुका ही—सम्यग्दर्शन होते अगर देवबंध करेगा तो मनुष्यायुका ही—और सम्यग्दर्शन रहते तिर्यंचको देवायुका ही बंध होता है।

ऐसे सम्यग्दर्शनको पाये विना इतनी जगह घूम आये कि कोई भी देश ऐसा नहीं बचा जिसपर अनंत बार जन्म न हुआ हो। फिर····भाई! मनुष्यभव पाया है तो इसकी शोभा धर्मसे ही है।

गृहस्थीमें रहते हुए भी धर्मका ख्याल ही अधिक रखना। सदा यही विचार करना कि मेरेसे कोई पाप न बन पाये। मेरा जीवन आदर्श और सात्विक हो।

***

(६)

"श्री समयसार' प्रवचन

[दिनाङ्क ११-१२-१९५२]

जो वस्तुके स्वभावपर दृष्टि रखता है वह मोहित नहीं होता, क्लेशित नहीं होता। जो संयोगपर दृष्टि रखता है कि इस वस्तुने इस वस्तुका ऐसा कर दिया, वैसा कर दिया वह मोहित होता है, दुःखी होता है। हर एक पदार्थ अपने आप सत् है, अपनेमें सत् है, दूसरेके लिए असत्, दूसरेमें असत् है अर्थात् हर पदार्थका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव न्यारा न्यारा है। सब ओर दृष्टि करके देखो तो ऐसा मालूम होता है कि एक द्रव्य दूसरेमें एकमएक हो रहा है, घुलमिल रहा है, सब गड़बड़ हो रहा है, परन्तु जरा गहरी दृष्टिसे देखो तो समझमें आजायेगा कि देखनेमें अभिन्न होते हुए भी एक द्रव्यका स्वरूप दूसरेमें प्रवेश नहीं करता। एक अंश भी एक द्रव्यका स्वरूप दूसरेमें प्रवेश नहीं करता। एक अंश भी एक द्रव्यका दूसरे द्रव्य रूप नहीं परिणमता। जब हम दूध और पानीको मिलाते हैं तो कहने लगते हैं कि देखो तो पानीकी एक एक बूंद दूधमें समा गई। परन्तु भैया! जरा उस दूधको अग्निपर तो रखो। जितना अंश पानीका है सब जल जायेगा और केवल दूध दूध शेष रह जायेगा। अगर दूध और पानी एकमेक हो गये होते तो वह अलग नहीं हो सकते थे। इसी तरह ऐसा दिखता है कि यह आत्मा, शरीर

ओर कर्म बिल्कुल एक हो रहे हैं, फिर भी एक आत्माका दूसरोंमें अर्थात् शरीर और कर्ममें प्रवेश नहीं और न शरीर और कर्मका एक भी परमाणु आत्मामें प्रवेश करता है। यहाँकी तो बात छोड़ो सिद्धलोकमें अनन्त आत्माएँ विराजमान हैं और सबकी परिणति एक सी है अर्थात् सभी अनन्त ज्ञानी, सुखी, अनन्त दर्शन वाले और अनन्त शक्तिशाली हैं। स्वभावमें किसीके किसी प्रकारका कोई अन्तर नहीं है, परन्तु फिर भी सब अपने-अपने स्वरूपसे जान रहे हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके चतुष्टय्यसे नहीं परिणमता। ऐसी वस्तु स्थिति है। यद्यपि समस्त द्रव्य वाह्यमें लोट रहे हैं, परन्तु किसके अन्दर कौन प्रवेश कर सकता है? सब ही वस्तु अपने-अपने स्वभावमें नियत हैं। चाहे गहरी मित्रता भी हो। परन्तु एक मित्रताका ज्ञान, सुख दूसरेमें नहीं चला जाता और दूसरेका ज्ञान, सुख पहिलेमें नहीं आ जाता। इस तरहसे देखा जाये तो जगत्में किसीसे मित्रता हो ही नहीं सकती। यह तो झूठा विकल्प है। इसी प्रकार किसीसे शत्रुता भी नहीं हो सकती। एक पदार्थ दूसरे पदार्थका कुछ नहीं कर सकता, फिर शत्रु मित्र काहेका?

जहाँ सुधार बिगाड़की दृष्टि आई कि इसने मेरा यह सुधार कर दिया, इसने मेरा यह नुकसान कर दिया, बस वहाँ दुःख ही दुःख है। सारी बात जुदी जुदी हैं। हर पदार्थका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अलग अलग है, फिर भी सम्बन्ध

मान कर दुखी हो रहे हैं। कितने खेदकी बात है कि अनन्त शक्तिवाला यह आत्मा व्यर्थके टुकड़ोंमें लोभ कर रहा है और बस यही तो संसार है।

जिन्होंने प्रज्ञारूपी छैनी द्वारा इस बुद्धिको हटा दिया है, लोकमें चाहे उनका आदर हो न हो, कोई उसे कुछ समझो न समझो पर, ऐसा भेदविज्ञानी जीव यदि अपने ही में रत है, संतुष्ट है, तो सुखी है।

समस्त वस्तु अपने स्वभावमें नियत है, फिर स्वभावसे च्युत होकर बुद्धिको व्याकुल करके परपदार्थोंमें मोही बनकर दुखी क्यों हो रहे हैं? जो होता है होने दो। जिस रूप जो पदार्थ परिणमता है परिणमने दो। मोही बनकर क्लेशको प्राप्त मत होवो। एक किसान था और उसकी स्त्री थी। किसान सदैव इस फिकरमें रहता था कि स्त्री कुछ बात कहे और मैं उसे दो चपत लगा दूं। पर स्त्री थी बहुत चतुर और शान्त। एक दिन किसान खेत पर गया और हलमें एक बैल पूर्वकी व दूसरा पच्छिमकी ओर मुँह करके हलके जुएमें जोत दिया ताकि जब स्त्री रोटी लेकर आयेगी तो अवश्य कुछ न कुछ कहेगी और बस मैं दो चपत लगा ही दूंगा। स्त्री आई और बड़े शांत भावसे बोली चाहे तुम उल्टा जोतो चाहे सीधा, मुझे क्या मतलब? मेरा तो रोटी देनेका काम है। सो मेरा काम पूरा हुआ लो मैं जाती हूँ'। यह सुनकर किसान बेचारा क्या करता। सो भाई?

परपदार्थ चाहे इस रूप परिणमों चाहे उस रूप, मैं तो सदा अपनी आत्मामें ही रत हूँ—यही प्रयत्न करना चाहिये।

एक वस्तु दूसरी वस्तुकी कुछ नहीं है। क्यों? क्योंकि वस्तु है, उसका स्वभाव ही ऐसा है। जब यह निश्चित है तब एक पदार्थका दूसरा पदार्थ क्या करता है? कुछ नहीं। एक लड़का अपनी उंगली दूसरोंको मटकाता है और बीस हाथ दूर खड़ा लड़का चिढ़ जाता है। क्या यहाँ वाले लड़केने वहाँ वाले लड़केमें कुछ कर दिया? नहीं। यहाँ वाला लड़का अपनी चेष्टा अपने ही में करता है और वहाँ वाला लड़का अपनी चेष्टासे ही चिढ़ जाता है, परन्तु निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध कुछ ऐसा है जिससे व्यवहारमें ऐसा कह देते हैं कि इसने उसको चिढ़ाया। केवल व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि अमुक वस्तुने अमुक पदार्थका ऐसा किया, परन्तु अपना परिणमन आप होता है। दूसरा तो निमित्तमात्र होता है। लैम्पके उजालेको देखकर लोग कहते हैं कि यह लैम्पका उजाला है। परन्तु भैया! जरा विचारो लैम्प तो केवल यह दो अंगुलकी दिखने वाली इसकी लौ ही होती है। जो लैम्पका गुण है वह तो केवल उतनी ही जगहमें है, फिर उससे बाहर उसका गुण कैसे जा सकता है? यह जो पुस्तक ऊपर रोशनी है, यह तो पुस्तककी है लैम्पकी नहीं। पुस्तकके परमाणु रोशनी रूप परिणम गये। परन्तु हाँ, लैम्प निमित्त कारण अवश्य है।

अगर लैम्प निमित्त न होता तो इस पुस्तकका परिणमन भी इस रूप न होता। जब होता था तो होता क्यों न, यह दूसरी बात है।

जिस पदार्थमें जितनी शक्ति होती है उसी रूप वह परिणमन करता है। जैसे दर्पण लैम्पका निमित्त पाकर अधिक चमकता है। पुस्तक इतना नहीं। लोग कहते हैं कि भगवान् सबको जानते हैं। सबको क्या जानते हैं? वे तो केवल अपनेको ही जानते है। मैं भी अपनेको ही जानता हूँ। व्यवहारमें ऐसा कह देते हैं कि इनको जाना उनको जाना। मेरा तो ज्ञान गुण है उसका परिणमन तो मेरेमें ही होता है। 'पर' मैं कैसे हो सकता है? आप सुनते हैं तो अपनी चेष्टासे और मैं बोलता हूँ तो अपनी चेष्टासे। परन्तु निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध कुछ ऐसा है कि अगर आप यहाँ न हों तो मैं इस रूप न बोलूं और अगर मैं न बोलूं तो आपइस प्रकारसे न सुनें। समवशरणमें भगवान्के दर्शन हुए, दिव्य ध्वनिमें उपदेश सुना उनके कारण सम्यग्दर्शन हुआ यह बात नहीं। अगर ऐसी बात होती तो जितने भी वहाँ बैठे हैं सबको सम्यग्दर्शन हो ही जाना चाहिये। परन्तु जिसको सम्यग्दर्शन हुआ वह उसीके परिणमनसे हुआ। भगवान्के दर्शन व दिव्य ध्वनि तो उनमें निमित्तमात्र है। कोई वस्तु अन्य वस्तुका कुछ करता है, इस प्रकारका कहना व्यवहार है, निश्चयसे उस वस्तुका काम उसी वस्तुमें होता

है। दूसरेसे सम्बन्ध जोड़ना ही व्यवहार है। मानलो इस चौकी पर लाल रंगकी हल्की-हल्की पालिश की जाय तो बताओ क्या पालिशने पालिशको लाल किया या चौकीको? सहज ही समझमें आजाता है कि पालिशने चौकीको लाल नहीं किया अपनेको ही लाल किया। परन्तु चौकी तो निमित्त है। अगर ऐसा न हो तो आकाशमें तो पालिश फैलाकर देखो क्या लाल हो जायेगा? नहीं। अतः सिद्ध हुआ कि चौकी चौकी ही में व पालिश पालिशमें ही परिणम रही है। फिर आप पूछेंगे तो पालिश किसकी है? उत्तर मिलेगा। 'चौकी की'। नहीं भाई, पालिश तो पालिश की है।

एक वस्तु दूसरी वस्तुसे किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखती है। केवल सत्को देखो। २४वें गुणस्थानमें शरीर रहता है, परन्तु अरहंतका शरीर-सम्बन्ध नहीं। जहाँ सम्बन्ध माना, वहीं दुःख है। दुःख दूर करनेके लिये लोग लाखों करोड़ों रुपया कमाते हैं, परन्तु एक वस्तुका दूसरीसे कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकारकी श्रद्धा अपने मनमें नहीं करते जो कि दुःखके नाशका एकमात्र उपाय है। सम्बन्धकी ममता छूटेगी तो शांति होगी ही। व्यवहारमें भी देखो जब किसीका कोई मिलने वाला मर जाता है तो उससे ऐसी ही ऐसी बात कहते हैं कि भाई जो आया है अवश्य मरेगा, दो दिन सबको यहाँ जीना है, अन्तमें मरना है इत्यादि।

अर्थात् ऐसी ही बातें कह कह उसे सतुष्ट करते है जिससे उसका राग उसके प्रति कम हो जाये, भेदविज्ञानकी बात कहनेसे ही शांति होती है उसे । किसीको ५००००) का टोटा पड़ जाये तो उसे ऐसा ही समझाते हैं कि भाई तेरा क्या गया ? ऐसा साच कि मानों तेरे पास वह रुपये थे ही नहीं इत्यादि । सम्बन्धके निषेधके बिना शांतिका उपाय नहीं है । परतन्त्रताकी बेड़ीको तोड़ो । मैं मनुष्य हूँ, स्त्री हूँ, पुरुष हूँ—यह अनुभव न करो । मैं तो एक, शुद्ध, निर्विकल्प, ज्योतिर्मय, कर्म, कलंकसे रहित हूँ, इस प्रकारका ही विचार करो । परको अपना मान रहे हैं, बस इसी कल्पनासे दुखी हो रहे हैं ।

शुद्ध द्रव्यके निरूपण करनेमें जिन्होंने बुद्धि लगाई है उन्होंने यही पाया है कि एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें कुछ भी नहीं है । ज्ञान अपनी जगह स्थित है, ज्ञेय अपनी जगह स्थित है । आंख और इस लैम्पको ही ले लो । न आंख लैम्पका करती है, न भोगती है । वह तो केवल जानती है । जानती भी नहीं है जाननेमें भी केवल निमित्तमात्र है । अगर आंख इस लैम्पका कुछ करती होती तो जरा आंखको जोरसे फाड़नेपर लैम्पकी रोशनी भी बढ़ जानी चाहिये थी और अगर आंख लैम्पकी भोगने वाली होती तो लैम्पकी गर्मी आंखमें प्रवेश कर जानी चाहिये थीं और आंख भस्म हो जानी चाहिये थी, परन्तु ऐसा नहीं है । इसी प्रकार

ज्ञान न तो ज्ञेयको कुछ करता है और न भोगता ही है । बाह्य पदार्थमें आप कुछ नहीं कर सकते, केवल अपने ज्ञान में ही कर सकते हैं । फिर क्यों तत्त्वमे च्युत होते हो ?

ये विषय-भोग बड़े सस्ते मिल रहे हैं, पर भैया ! बड़े महँगे पड़ेंगे । 'अन्धेर नगरी चौपट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा' वाली कथा सबको विदित ही है । बड़ी सस्ती भाजी व खाजा खा खाकर शिष्य बड़ा मोटा ताजा हो गया, परन्तु अन्तमें वह इतने महँगे पड़े कि उसे फांसीके तख्तेपर लटकनेकी नौबत आगई । इसी प्रकार यहाँ जो सुलभ वस्तु मिल रही है वह हम आनन्द हो होकर खूब भोग रहे है, परन्तु याद रखो कि अपने ये विकल्प ही बहुत महँगे पड़ेंगे । न जाने नर्कमें जाना पड़े या निगोदमें जहांके दु:खोको याद करके भी हृदय फटा पड़ता है । जो हर वस्तुको स्वतन्त्र देखता है, समझता है कि किसी पदार्थका किसी पदार्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, वह परपदार्थोंमें मोहित नहीं होता और दु:खी भी नहीं होता । **

(१०)

"श्री सहजानन्द गीता" प्रवचन

[दिनाङ्क १४-१२-१९५२]

यदाप्नोति सुखं स्वस्थो न तल्लेशं प्रतिष्ठितः ।
स्वास्थ्ये शं, न हि रागेऽतः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥५॥१॥

'स्व' याने आत्मामें जो स्थित होवे वह स्वस्थ कहलाता

है। अगर कोई स्वस्थ शब्द न कहकर उसके अर्थ रूप व्यवहारमें ऐसा पूछने लगे कि अपनी आत्मामें स्थित हो या नहीं तो यह प्रश्न व उसका उत्तर कुछ अटपटासा मालूम देगा।

स्वस्थ पुरुष—आत्मामें रहने वाला पुरुष, जिस सुखको प्राप्त करता है उसका लेश भी लोकमें कहलाने वाला प्रतिष्ठित पुरुष नहीं प्राप्त कर सकता। स्वस्थ न रहनेकी जड़ है इच्छा। और भैया ! शारीरिक स्वास्थ्यके बिगड़ने का कारण भी इच्छा ही तो है। इच्छा बढ़िया बढ़िया पदार्थोंके खानेकी हुई और खाते ही चले गये। फल यह हुआ कि बीमार पड़ गये। जितने भी रोग होते हैं सबकी मूल है इच्छा। इच्छासे चिन्ता उत्पन्न होती है और जहाँ चिन्ता हुई क्लेश अनिवार्य है ! चितासे भी बुरी चिन्ताको बताया गया है। चिता तो मुर्देको ही जलाती है और चिन्ता जिन्देको ही जला देती है। शल्यसे अथवा चिन्तासे आत्मामें घुन लग जाता है। एक बहुत ही मोटे आदमी थे। इतने मोटे कि उठते बैठते भी नहीं बनता था। एक वैद्य जी उनके इलाज करनेके लिये आये। सब कुछ देखनेके बाद उन्होंने कहा—'सेठ जी आप तो ६ महीने में मर जायेंगे'। सेठ जी तो चिन्तातुर रहने लगे और इसी चिन्ता में इतने सूख गये कि जो अधिक मुटापा था वह कम हो गया और सब काम ठीक प्रकारसे करने लगे। ६ माह

बाद वैद्यने बताया, 'सेठ जी आप अब मरोगे नहीं। पहले जो मैंने कहा था वह तो इलाज था केवल'। सो भैया ! चिन्ता तो ऐसी है कि शारीरिक स्वास्थ्य बिगाड़ देवे। अगर कोई मंगल है तो एक नैराश्यपना ही है यानी इच्छा का न रहना। यही सुखका कारण है। आशा न रहे यही स्वास्थ्य है। इच्छा बड़ा रोग है। अपनी महत्ताको, अपने बड़प्पनको भूलकर, दूसरेमें यानी परपदार्थोंमें आशा लगा रखी है अतः दुःखी है। अरे ! एक बार अपनी महत्ताको तो देख। तू तो ज्ञानानन्दमय, ज्योतिर्मय, स्वतन्त्र है। अपने स्वभावको तो देख, तू तो अनन्तज्ञानी, सुखी व शक्ति-शाली है। क्यों ऐसा अध्यवसान बना रखा है कि मैं निर्धन हूँ, गरीब हूं, दुःखी हूं आदि। अपने स्वभावकी ओर ढला हुआ स्वरूप ही तेरा शरण है। जब बाह्य पदार्थोंसे रुचि हट जाती है और उपयोग केवल ज्ञान ही में रह जाता है वही आनन्दको दशा है, वही असली स्वास्थ्य है।

स्वास्थ्य तो आकिञ्चन्य भावसे पैदा होता है। मेरा जगत्में कुछ नहीं है। मेरा तो बस मैं ही हूं। मैं अधूरा नहीं। मैं तो पूर्ण, ज्ञानानन्दमय, अखंड, अविनाशी हूं। अगर मैं आधा होता अथवा अपूर्ण होता तो पूर्ण बननेके लिए जगत्में कुछ ढूंढ़ता, परन्तु मैं तो पूर्ण हूं अतः मुझे जगत् में कुछ भी नहीं ढूंढना है। किसीको अपना मानोगे तो कुछ भी प्राप्त नहीं होगा। किसीको अपना कुछ न मानो तो अपनी

निधि जो स्वयमें ही विद्यमान है उसका अवलोकन होता है। किसीसे कुछ नहीं चाहना—यही सुखसागरमें मग्न होना है। एक हज्जाम सेठजीकी हजामत बना रहा था तो सेठजीने कहा भई, हम इसके बदले तुझे कुछ दे देंगे। जब हजामत बना चुका तो सेठजीने उसे चार आना दिये, परन्तु उसने कहा—सेठजी मुझे तो 'कुछ' ही चाहिए। यहाँ तक कि उसने १०), २०), १००), २००) भी लेनसे इन्कार कर दिया और वह 'कुछ' ही माँगता रहा। इतनेमें सेठजीको भूख लगी और उन्होंने हज्जामसे कहा कि भाई सामने गिलासमें दूध रखा है उसे ले आ। ज्योंही गिलास उठाया तो वह बोला 'सेठजी इसमें तो 'कुछ'पड़ा है, सेठ जी बोले, वह 'कुछ' तू ले ले। उस दूधमें पड़ा था कोयला। तो हज्जामको केवल कोयला मिला। सो भैया ! जो 'कुछ' चाहेगा उसे कोयला मिलेगा। जगत्में कुछ चाहेगा तो उसे कुछ नहीं मिलेगा। भीतरमें स्वरूपपर दृष्टि डालो तो मेरा कुछ नहीं, ऐसा पता चलेगा।

मोहीजन दूसरोंको बचानेका प्रयत्न करते हैं। जब कोई मरनेके निकट होता है तो घरके लोग भरसक प्रयत्न करते हैं। कि यह बच जाये, परन्तु सब व्यर्थ। जैसा है वैसा समझ लो यही सुख है। बड़ा सस्ता सौदा है सुखी होनेका। इसके विपरीत जो परपदार्थोंमें सुख ढूंढ़ते हैं वह तो बड़ी टेढ़ी खीर है। पराधीन सुख बड़ा महंगा है। आत्मिक सुख

स्वाधीन सुख है। जब दृष्टि डालो तभी मिल जाता है। आज मिष्ठान्न खानेको तबियत हुई, देखो कितने खटपट करने पड़ते हैं, आग जलाओ, चीनी लाओ, मावा लाओ आदि और सब कुछ बना लिया और उसमें पड़ गयी मक्खी, लो भाई सब बेकार हो गया। यह तो रही पराधीन सुख की बात। और स्वाधीन सुखके लिये जरा भीतर दृष्टिकी और सुख हो गया। कितना स्वतन्त्र है यह सुख। हम मोह में अंधे हो रहे हैं, इसलिए हमें बड़ा महंगा दिखलायी पड़ता है परन्तु भाई ! स्वाध्यायके बिना शान्ति नहीं और स्वास्थ्य मिलेगा केवल आकिञ्चनभावसे।

जिस समय जो भी करनेमें आवे वह भी स्वयं मेरे द्वारा नहीं किया गया क्योंकि मैं तो केवल ज्ञप्तिमात्र हूं—इस प्रकारका विचार करे। रोग आया है मेरे बसकी चीज नहीं, विपत्ति आनी है मैं क्या कर सकता हूँ, बुढ़ापा आता है, मेरे हाथकी चीज नहीं कि न आने दूं, धन नष्ट होता है उसमें मैं क्या कर सकता हूँ, धन रहता है या नहीं मेरे वसकी बात नहीं। यह सब मेरे द्वारा नहीं किया जाता, मेरे द्वारा तो मैं ही किया जाता हूँ। अतः मैं अपनेमें अपने द्वारा अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

शास्त्रोंको पढ़कर भी सबको भूले बिना स्वास्थ्य प्राप्त नहीं होता। शास्त्र पढ़नेके बाद विकल्प उठते हैं, तर्क उठते हैं, विचार पैदा होते हैं। उनके समाप्त हुए बिना स्वास्थ्य यानी आत्मामें स्थिति नहीं होती। आप कहोगे फिर तो

देहाती ही अच्छे है। क्या लाभ है कि पहले तो शास्त्रोंका अध्ययन करें, विकल्प पैदा करें, फिर उन विकल्पोंको समाप्त करें। नहीं भाई, ऐसी बात नहीं है। जिज्ञासा उसे ऐसा करनेके लिए विवश करती है और विकल्प दूर करने का उपाय भी तो यह ही है। पहले शास्त्राध्ययन करो, फिर जो विकल्प उठें, जो विचार उठें तो उनके द्वारा पहली अवस्थामें उठने वाले विकल्पोंको समाप्त करो और साथ ही इन विकल्पोंकी भी होली कर दो— यही तो मार्ग है। इसके बाद जो निर्विकल्पता आती है वही तो स्वास्थ्य है। जब सबको भूले बिना स्वास्थ्य होता ही नहीं तो मैं सबको छोड़कर अपनेमें अपने द्वारा अपने लिए स्वयं सुखी क्यों न होऊँ ?

ज्ञानी अपने स्वतन्त्रपनेपर दृष्टि डालता है, उसका सब दुःख दूर हो जाते हैं। जिसका उपयोग आत्मामें इतना स्थिर हो जाता है कि आँख बन्द करने और खोलनेमें जो परिश्रम होता है—वह बेकार है यह समझकर शरीरकी क्रियाओंसे निवृत्त हो जाता है अर्थात् कोई भी क्रिया, नहीं करता, वही स्वस्थ है। ऐसा ही पुरुष सुखी होता है।

साक्षात् परमात्मा भी उपदेश देवें फिर भी स्वास्थ्यके बिना निर्मलता नहीं आ सकती; कल्याण नहीं हो सकता। पराधीन सुखमें रहता हुआ भी नारकीके समान है और स्वाधीन दुःख भी विवेकमें स्वर्ग-सुख-तुल्य है। ज्ञानी अपनी ही परिणतिसे दुःखको दूर करके सुखी होता है। उसको

अगर परमात्मा भी यह कहे कि मैं तुम्हे मोक्ष ले जाऊँगा तो वह उसे भी स्वीकार नहीं करता, क्योंकि वहाँ भी तो उसे उस परमात्माका अहसान मानना पड़ेगा। ऐसे अहसान को वह नहीं चाहता वह किसीका अहसान किसीकी आशा पसन्द नहीं करता। जिसने परमात्माके स्वरूपको जान लिया वह परमात्मासे चाहे क्या ? कोई वृक्षके नीचे बैठा हो और वृक्षसे प्रार्थना करे तो उसकी मूर्खता ही है। इसी प्रकार परमात्माकी भक्ति करे और कुछ चाहे तो उसकी मूर्खता नहीं तो और क्या है ? उसने तो परमात्माको बाह्यमें कल्पित किया अपनेमें तो नहीं किया। यह तो जैसे किसी राजासे कुछ मांगना हुआ ऐसे ही परमात्मासे। भैया ! मोक्ष तो अपनी आत्मामें बसे हुए परमात्माकी ही कृपासे प्राप्त होगा। बिना 'स्व' स्थिति (स्वास्थ्य) के किसीको सुख प्राप्त नहीं होता। आत्मा अपने सुख दुःखके लिए स्वयं जिम्मेदार है। इसलिए मैं अपनेमें अपने द्वारा अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

यह विश्व सुखके अंशका भी मूल नहीं। ये सारे पदार्थ जुड़कर मिलकर भी सुख देना चाहें तो इनमें शक्ति नहीं कि मुझे सुखी कर सकें। सुख तो ज्ञान और त्यागका फल है। इसलिए मैं अपनेमें रमण करूँ, अपनेमें तुष्ट होऊँ, अपनेमें सुखी होऊँ।

अद्वैतपर दृष्टि होनी चाहिये, दो पर नहीं। व्यवहार में भी तो देखो किसीके यदि एक ही लड़का हो तो उसे कोई चिन्ता नहीं, न बंटवारेकी चिन्ता, न लड़ाई झगड़े

की । और यदि दो-चार लड़के हों उनको धन बांटो, सम्पत्ति बांटो आदि बहुतसी चिन्तायें करनी पड़ती हैं। और भैया ! अगर कोई इकला ही हो तो उसको तो किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं रहती। जितना कम सम्बन्ध होगा उतनी ही कम चिन्ता होगी । सब कुछ होते हुए भी, परिवार होते हुए भी अपनेको अकेला तो सोच सकता है। यह तो न सोचो कि हम सब इतने हैं। गृहस्थीमें कमल सरीखे रहें । कमल जलसे हो पैदा होता है । जलमें ही रहता है, फिर भी जलसे भिन्न रहता है । इसी प्रकार हम भी तो रहे । सब कुछ रहते हुए भी भिन्न रहें। ऐसी दृष्टि आवे हमेशा यह ख्याल रहे मैं तो अकिंचन हूँ अद्वैत आत्मा में ही दृष्टि हो। एकाकीपनमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं। लोगोंमें ऐसी बात प्रचलित है—'एकोऽहं बहु स्याम्' ब्रह्मा पहले एक था फिर बादमें उसने अनेक रूप बनाये। इसी प्रकार हमारा यह आत्मा ब्रह्मा जब अपनेको एक, अखंड, अनादि सोचता है तो एक रहता है और जब अपने को नारकी हूँ, पुरुष हूं देव हूं इस प्रकार विचार करता है तो बहुत रूप बन जाते हैं। 'मैं अनेक रूप हूँ' इस प्रकार का विचार आया कि इतनी बड़ी सृष्टिकी रचना हो गई। जब दस बीस बुढ़िया इकट्ठी होकर तीर्थयात्राको जाती हैं तो आपसमें ऐसा कह लेती हैं कि अपनी-अपनी पोटलीकी देखभाल आप करना । ऐसा करनेसे उनकी पोटली सुरक्षित

रह जाती है । इसी तरह हम अपनी ही अपनी सृष्टिकी रचना करते रहें तो अव्यवस्था नहीं होगी । यदि कोई दूसरा हम लोगोंकी सृष्टि रचना करें तो अनेकों तो भूल में परिणमन बिना ही रह जायें ।

अपने ही भावोंसे अपना कुछ होता है । दो भाई थे । एक तो पूजाके लिए मन्दिरमें गया और दूसरा लकड़ी काटनेके लिए जंगलमें गया । पूजा करने वाला पूजा करते समय सोचता है कि देखो मेरा भाई जंगलमें मजे कर रहा होगा, अब जामुनके पेड़पर चढ़ा जामुन खा रहा होगा, अब इधरसे उधर उछलता हुआ भागा-भागा फिर रहा होगा । अहा, वहाँ कितना मजा है। और उधर लकड़ी काटने वाला विचार करता है कि मेरा भाई इस समय भगवान्के सामने खड़ा भगवान्का दिव्य रूप निहार रहा होगा, उनकी पूजा कर रहा होगा, भक्ति कर रहा होगा, कितना आनन्द पा रहा होगा। सो भैया ! देखो भावोंकी विचित्रता । पूजा करते हुए तो वह पाप कर्म ही बांध रहा है और लकड़ी काटने वाला लकड़ी काटते हुए पुण्यका संचय कर रहा है । सब भावोंकी ही बात है। भावोंसे ही सब कुछ चलता है ।

भैया ! कुछ वर्ष पहले सत्याग्रहका बाढ़ सा उठा था । कानून तोड़नेके लिये, विलायती कपड़ा न बेचने देनेके लिए सत्याग्रह । सत्याग्रहका अर्थ है—सत्य आग्रह यानी सत्य हठ

अर्थात् न्यायकी हठ। सत्याग्रह तब होता है जब बड़ा अन्याय होता है, अंधेर होता है। इस समय बड़ा अंधेर हो रहा है, वहुत विकल्प बढ़ रहे हैं, बड़ा अत्याचार हो रहा है, मुझ ज्ञानमय आत्मामें। जैसी भी अवस्था हो उस अवस्था में ही सत्यका आग्रह करूँ और शांत और सुखी होऊँ। इस प्रकारकी दृढ़ आत्मीय हठ करूँ—मैं ज्ञानमय स्वभाव वाला हूं, मैं परपदार्थमें मूर्च्छा नहीं करूँगा, सम्यग्दृष्टि ही बना रहूंगा, अपने चतुष्टयको समझूँगा। चाहे मैं जिस अवस्थामें हूं उसी अवस्थामें अपनेको रखकर सुखी रह सकता हूं।

कोई काल हो, कोई देश हो उन परपदार्थके गुणोंसे मेरी कोई पूर्ति नहीं होती क्योंकि मैं तो स्वस्थ हूं, :स्व' में स्थित हूं। अतः मैं निज आत्मामें ही रहता हुआ अपने अर्थ सुखी होऊँ!

चैतन्यमय मुझ आत्माका कहाँ तो शास्त्र है, कहाँ चर्चा है, कहाँ कल्पना है ? मैं तो अपनेसे बाहर कुछ नहीं हूँ। मैं तो चैतन्यमात्र हूँ, यही मेरा स्वभाव है ? आतशी शीशेको दोपहरके समय सूरजके सामने कर दो वह सूर्यकी किरणोंको संकोचकर केन्द्रित करके इतनी गर्मी पैदा कर देता है कि उसके नीचे रखी हुई रुई जल जाती है। इसी प्रकार चारों ओर हमारा उपयोग घूम रहा है, अगर हम उसको चारों ओरसे संकोचकर आत्मामें ही केन्द्रित कर दें तो वह आत्मा इतना चमत्कृत हो जायेगा कि कर्मोंको जला कर परमात्मा बन जायेगा।

मुझ चैतन्यमात्र आत्माके कहाँ भोग हैं ? देखो तो सही एक भजनमें कहा भी है 'भोगे तो भोग क्या हैं भोगोंने भोगा हमको'। हमने किसी इंद्रिय का भोग भोगा। क्या किया हमने ? विकल्प बनाया, खुदका काल गया, परपदार्थ में क्या अन्तर किया ? फिर भोग भोगनेमें ज्ञानीको तृप्ति कहाँ, फिर तृष्णा कहाँ, फिर बंधन कहाँ ? यह सब बातें उस समयकी कह रहे हैं जब आत्मामें उपयोग रहता है। इसलिये मैं अपनेमें, अपने द्वारा, अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

दुःख उपस्थित होनेपर ज्ञानसे मेरे उपयोगकी च्युति न होवे। चाहे कितनी ही विपत्ति आवे मेरा उपयोग तो ज्ञान ही में रहे। स्वमें स्थित रहने वाला ज्ञानी इसी हेतुसे काय-क्लेश, तप, व्रत आदि करता है। ज्ञानीको क्या यह श्रद्धा है कि शरीरको तकलीफ देनेसे जल्दी कर्म झड़ जायेंगे ? नहीं। फिर आप पूछेंगे तो ज्ञानी तपस्या क्यों करता है, शरीरको कष्ट क्यों देता है ? इसका उत्तर यह है कि ज्ञानी का तो यह अभ्यास है। वह यह विचार करके तपस्या आदि करता है-जब तक जीवन है चाहे जो विपत्ति आवे मैं ज्ञान स्वभावसे डिग न जाऊँ। इसीलिये वह उपसर्ग सहन करता है। साथ ही साथ तपस्यामें इच्छाका निरोध होता है। इच्छानिरोधसे कर्मोंकी निर्जरा होती है। तपस्या आदि करना तो पाठशाला है। यहाँ यह प्रैक्टीकल करके उपसर्ग को सहन करके देखता है कि मैं विपत्तिमें भी ज्ञान स्वभाव

से तो नहीं डिगता और जब उसको वास्तवमें आपत्ति या उपसर्ग आता है तो उस अभ्यासके कारण अपने ज्ञान स्वभावसे च्युत नहीं होता।

निज आत्माकी स्थितिके बिना ध्यान नहीं होता। परमात्माकी उपासना करनेका अर्थ है अपनी उपासना करना। परमात्माके स्वरूपमें आदर हुआ इसके माने अपने स्वरूपमें आदर हुआ। अपने सिवा उपासना कर भी किसकी सकता है? विषयोंके ध्यानमें अपनेकी अशुद्ध और परमात्माके ध्यानमें अपनेकी शुद्ध उपासना की, परमात्माके स्वरूपका विचार अपनी उपासना कहलाती है। मैं अपनेमें अपनी उपासना तो करता ही हूँ, उसे शुद्ध रूपमें करने लगूँ ऐसा करनेसे अपनेमें अपने द्वारा स्वयं सुखी हो जाऊँगा।

***

(११)
'श्री सहजानन्द गीता' प्रवचन
[दिनांक १८–१२–१९५२]

पराशाजीवितो मूढः स्वातन्त्र्यं मन्यते बुधः।
शं स्वातन्त्र्यं विना नातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥४॥३४॥

मोही पुरुष अपने जीवनभर दूसरेकी, परपदार्थोंकी आशा ही करता रहता है और समझता है अपनेको स्वतंत्र। उसकी दृष्टिमें यह बात रहती है कि मैं अपने ही तो मकानमें रहता हूँ, अपना ही तो खाता हूं, दूसरेसे तो कुछ नहीं

लेता इत्यादि। परन्तु वह इस बातको नहीं देखता कि उसको परपदार्थों की कितनी आशा लगी हुई है? वह उनका कितना दास हो रहा है? असली स्वतन्त्रता तो जब होती है जब परपदार्थोंकी किसी प्रकारकी भी इच्छा न हो, यहाँ तक कि सर्दी, गर्मी, भूख, प्याससे भी बेपरवाह होकर अपनेमें ही रमनेकी प्रवृत्ति हो जाये। बुद्धिमान् पुरुष की तो यही भावना रहती है कि मैं तो मेरे ही आधीन हूँ। स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी जनोंके आधीन रहनेमें स्वतन्त्रता कहां? जो पुरुष परिग्रहसे रहित, बनमें वास करने वाला अपने कहे जाने वाले शरीरसे भी बेपरवाह हो जाता है, वास्तवमें स्वतन्त्र तो वही है। इस प्रकारका स्वतन्त्र ही तो साधु कहलाता है। स्त्री, पुत्र, धन आदिके आधीन रहता हुआ गृहस्थ इस प्रकारका स्वतन्त्र कहां? हां, इतनी बात अवश्य है कि जो घरबार, स्त्री, पुत्र आदिको छोड़कर भी परपदार्थोंमें ममत्व रखते हैं, दूसरोंकी आशा करते हैं उनकी अपेक्षा वह अधिक स्वतंत्र है, जो सब चीजोंको भोगते हुए भी उनमें ममत्वबुद्धि नहीं रखता। इसलिए मेरा कर्त्तव्य है कि परकी आशा त्याग कर अपनेमें ही अपने द्वारा, अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

जगत्‌की प्रवृत्ति इस ओर है कि अन्य जीव मेरे अनुकूल हो जायें अथवा मैं औरसे अनुकूल हो जाऊँ। निश्चयसे विचारो तो अपनेको अपनेमें अनुकूल करनेमें ही सत्य सुख है। जब मैं अपनी ही रक्षा स्वयं नहीं कर सकता, अपनेको

ही नहीं समझ सकता, अपने ही आधीन नहीं, फिर दूसरों की चाह करके कुछ प्राप्त कर लूँ असम्भव है। दूसरोंकी बात छोड़ो, हम अपनी ही चाहके अनुकूल नहीं रहते। मेरी अनुकूलता क्या है? अपने स्वभावके अनुकूल रहना। हमारे अनुकूल दुनिया नहीं हो सकती सारी दुनिया हमें ठीक समझे हमसे खुश रहे यह त्रिकालमें भी नहीं हो सकता। एक सेठके चार पुत्र थे। उसने चारों को अपनी सम्पत्ति बराबर बराबर बाँट दी। सबसे छोटे पुत्रसे कहा कि भई! बंटवारा सकुशल हो गया है। अत: गांव वालोंकी ज्यौनार कर दो। उसने ज्यौनारमें बहुत ही बढ़िया बढ़िया आठ मिठाई बनाई। गांव वाले आये, खाना खाया और साथमें यह भी कह गये कि ऐसा मालूम होता है कि इसके बापने इसे और लड़कोंसे ज्यादा धन दे दिया है, तभी तो इसने दावतकी और आठ मिठाई हैं। जब दूसरे लड़केने दावतकी उसने केवल चार ही मिठाईयां बनाईं। खाने वालोंने तब कहा कि यह लड़का तो बहुत ही तेज निकला, इसने तो चार मिठाईमें ही टाल दिया। जब तीसरेने बगैर मिठाईका भोजन ही उनके सामने रखा तो उन्होंने उसे बहुत ही बदमाश समझा और अंतमें जब सबसे बड़े लड़केने उन्हें केवल रोटी और दालकी ही दावत दी तो वह यह कह ही गये तमाम माल तो इसने हड़प लिया क्योंकि यही तो सबसे बड़ा है और हमें खिलाता है सूखी रोटियाँ। तात्पर्य यह कि सबको कोई खुश नहीं कर सकता। परदोष-दृष्टि

वाले पुरुष दुनिया में बहुत हैं। अपना लोटा छानो जगका कुवां छाननेसे कोई लाभ नहीं है। दुनिया कुछ भी कहे अपनी निर्मलता बनाओ। इसीसे काम चलेगा। यहां पर किसीने कुछ अच्छा कह दिया तो क्या वे अच्छा कहनेवाले यहां सदा ही रहेंगे और क्या हम ही यहाँ सदा रहेंगे? तथा परकी परिणतिसे हमारा होता क्या है? फिर व्यर्थ हम प्रशंसा सुननेके इच्छुक बनकर बंधनमें क्यों बंधे रहें। सहजज्ञानमें कहीं हानि नहीं, इसलिये ज्ञानमें उपभोग करके चिन्ताके निरोधोद्धारसे मैं अपनेमें अपने द्वारा, अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

एक गुरु और शिष्य थे। वे घूमते घूमते राजाके बगीचे में पहुँच गये। गुरु एक पलंगपर लेटे और शिष्य दूसरे पर। गुरुने शिष्यको समझा दिया कि 'कुछ बनना मत।' कुछ देर बाद राजा व सिपाही वहाँ पधारे और शिष्यको पलंग पर पड़े हुए देखा तो पूछा 'तू कौन है?' शिष्यने उत्तर दिया, 'हम साधु हैं।' राजा बहुत क्रुद्ध हुआ कि यह कैसा साधु? उसने अपने सिपाहीसे पिटवा कर उसे निकाल दिया। फिर राजा गुरुजीके पास पहुँचे। गुरुजीसे भी पूछा कि 'तुम कौन हो?' गुरुजीने कुछ उत्तर नहीं दिया और चुपचाप ध्यान मुद्रासे बैठे रहे। राजाने कहा, 'भाई! इन्हें कुछ न कहो, ये तो कोई बड़े भारी साधु मालूम होते हैं।' इस प्रकार गुरुजी बच गये। भई, जगत्‌में बनना नहीं चाहिये। जो कुछ बनेगा वही पिटेगा। ज्यादा चतुराई

दिखलानेसे कोई लाभ नहीं। कभी कभी ऐसा होता है– बाजारमें तरकारी खरीदने जाते हैं, दस दुकानोंपर खूब देखभाल करते है और अन्तमें मिलती हैं सड़ी तरकारी ही। अच्छा एक बात बताओ–ठगना बुरा या ठगा जाना बुरा? ...भाई! ठगा जाना बुरा नहीं। बुरा तो दूसरोंको ठगना है। अगर हम ठगे गये तो कुछ पैसे ही की तो हानि हुई, हमारे परिणाम तो खराब नहीं हुए, हमने पाप बंध तो नहीं किया और दूसरोंको ठगनेमें तो नियमसे परिणाम खराब होते और पाप बंध होता ही है।

सुख तो सबके त्यागमें है। परन्तु मैं संग्रह ही करता जाता हूं, बताओ दु:खके उपायसे सुख कैसे मिलेगा? साधु की और लंगोटी की कथा सबको मालूम ही है कि एक लंगोटी मात्र परिग्रह रखनेसे उसकी कैसी दुर्गति हुई। पदार्थोंके संग्रह करनेसे सुख नहीं मिलता। जो लोभी होते है वह अगर बाजारमें कोई चीज सस्ती मिल जाती है तो बिना जरूरत भी खरीद लेते है। उन्हें यह आशा रहती है कि शायद यह चीज तेज हो जाये। इस प्रकार चीज खरीदने से लाभ क्या? इसमें कोई किफायत नहीं है। आवश्यकतानुसार ही चीजें संग्रह करना चाहिये। आवश्यकतासे अधिक वस्तुके संग्रह करनेमें परिणामोंमें कलुषता आती ही है और श्रद्धामें उतना भी क्यों सोचूं? अत: मैं सर्व परिग्रहको त्याग कर अपनेमें, अपने द्वारा, अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

सुखके अर्थ परपदार्थकी प्रतीक्षा करना सुखकी हत्या है। मैं सुखसे पूर्ण हूँ, फिर भी परसे आशा करता हूँ कि इनसे मैं सुखी होऊँगा, बड़े आश्चर्यकी बात है। परमें उपयोग गया, परकी आशाकी, अपनेसे हटा, बस दुखी हो गया। प्रतीक्षा बड़ी बुरी चीज है। कोई कठिन रोगी हो जिसके बारेमें सदैव ही बना रहता है कि बचेगा भी अथवा नहीं? उस सन्देहके कालमें दुखित और आकुलित बना रहता है। और अगर उसकी मृत्यु हो जाती है तो बस किसी प्रकारका सन्देह न रहनेके कारण उतनी आकुलता भी नहीं रहती। इसी प्रकार इसमें इतनी हानि होगी या इतनी, इस प्रकार सन्देहमें जो आकुलता होती है, उससे कम आकुलता तो उस धनहानिके साक्षात् होने पर होती है। सन्देहकी अवस्थामें मार्ग भी नहीं सूझता।

उत्तम त्याग तो वहाँ होता है जहाँ आशा न हो, प्रतीक्षा न हो। जहाँ आशा और प्रतीक्षा होती है वहाँ त्याग नहीं। आशा और प्रतीक्षामें अन्तर केवल इतना ही है कि प्रतीक्षाका समय नजदीक होता है। जैसे स्टेशनपर रेलकी प्रतीक्षा और आशाका दूर। एक आदमी जंगलमें जा रहा था। रास्तेमें एक बुढ़ियाको सर्दीसे ठिठुरती देखकर उसने अपना कम्बल उस बुढ़ियाको दे दिया। आगे चलकर एक किसान अपनी फूंसकी झौंपड़ीमें बैठा हुआ था, वह उस झौंपड़ीके बाहर बैठ गया। जब उसे सर्दी लगी तो वह झौंपड़ीका फूंस निकाल निकाल कर जलाने लगा और

तापने लगा। जब इस तरह झोंपड़ीका काफी फूंस निकल गया तो किसानने पूछा—कौन है ?' आप उत्तर देते है, 'हम हैं दानीके बाप' और अपनी सारी कथा सुना दी। किसानने बहुत बुरा भला कहा और पीटकर भगा दिया। सो भैया ! यह त्याग नहीं। जहाँ आशा, प्रतीक्षा न हो वहाँ ही त्याग होता है। जो अपनेको स्वतन्त्र निश्चल, एकाकी अनुभव करेगा वह किसीकी आशा कर सकता है ? आत्मा बने तो ऐसा बने, भेदविज्ञान हो तो ऐसा हो, श्रद्धा हो तो यही हो कि बाह्य पदार्थ एक दूसरेसे बिल्कुल भिन्न हैं, आत्माका उनसे किसी प्रकारका भी सम्बन्ध नहीं है। मैं अपने चतुष्टयसे हूं, परपदार्थ अपने चतुष्टयसे हैं। जब हम इकले रह जाते हैं, कोई हमारा रक्षक या बात पूछने वाला नहीं रहता तो यह तो हमारा परीक्षाका समय है कि हममें कितनी धीरता आई है। अच्छी बातमें तो सभी शांत और विनयी बने रहते हैं। जरा उनकी इच्छाके प्रतिकूल करके कोई बात देखो, यदि वह उस समय भी शान्त रहे तो समझो वह शान्त है अन्यथा नहीं। गुरुजी (पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी) जब घर रहते थे तब उन्होंने एक बार चिरौंजाबाई जी से कहा कि मैं बड़ा शान्त हूं। उन्होंने कहा कि अच्छी बात है। एक बार गुरुजीने खीर बनानेको कहा। उन्होंने खीर तो बनाई और साथमें महेरी भी बना दी। जब गुरुजी खानेके लिये बैठे तो उन्हें महेरी परोस दी, जो रूप रंगमें खीर जैसी ही थी। जब वह खाने

में खट्टी लगी तो उन्होंने थालीको दूर पटक कर मारा। तब उन्हें शान्त करनेके लिये बाईजीने कहा कि भैया ! गर्म होनेके कारण शायद यह अच्छी न लगी हो, लो मैं तुम्हें ठंडी खीर देती हूं। ऐसा कहकर खीर दी। तब पीछे बाईजीने समझाया कि क्रोधके कारण मिलनेपर शान्ति रखना शान्ति है। वह कथा गुरुजीने स्वयं कही थी। सो भैया ! कहनेका मतलब यह है कि अपनी इच्छाके विपरीत परिस्थिति उपस्थित होनेपर विरले ही शान्त रहा करते हैं।

कुछ लोगोंका ऐसा विचार हो सकता है कि ज्ञानीका जीवन तो बिल्कुल ही बेकार है। कोई उसकी प्रशंसा करे तो वह प्रसन्न नहीं होता, कोई उसकी निन्दा करे तो वह उसको मिटानेका प्रयत्न नहीं करता। स्त्री, पुत्र, आदिका भी सुख नहीं भोगता। उसका होना न होना तो बेकार ही है। परन्तु भाई ! ऐसी बात नहीं है। अनाकुलता तो वही है, वह तो ज्ञातामात्र रहनेमें ही है।

न तो भोगमें ही शान्ति है और न योगमें। शान्तिका आधार तो इच्छा का अभाव है। न साधुभेषमें ही शान्ति है और न गृहस्थीमें। इच्छा ही न होना यह तो मेरा स्वभाव है। बाह्यमें जितने पदार्थ हैं वह इच्छा उत्पन्न होनेमें निमित्त कारण हैं, अतः उन निमित्तोंको टालते हैं। उनको टालनेसे त्यागी का भेष हो जाता है। हमने बहुत थोड़ासा सीमितसा परिग्रह रख लिया, लो भई ! हम त्यागी हो गये। कुछ और संयमसे रहने लगे ब्रह्मचारी हो

गये, आरम्भ वगैरहका त्यागकर दिया, केवल चद्दर और लंगोटी रखने लगे क्षुल्लक बन गये और सर्वपरिग्रहका त्याग कर दिया तो मुनि हो गये। भेष कोई बनाता है क्या ? उन वस्तुओंसे प्रयोजन नहीं रहा त्याग कर दिया। त्याग करते करते वह भेष बनता चला जाता है और यह सब भी किया जाता अपनी ही रक्षाके लिये, यह तो अपनेपर कृपा है। मुझ पर कृपा करनेमें कोई समर्थ नहीं, इसलिये अन्यकी आशा त्यागकर अपनेमें अपने द्वारा, अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

सुख तो आशाका अभाव है। नैराश्य अर्थात् आशा न होना यही अमृत है। दुख तो मात्र आशा है। किसीसे उसके दु:खका कारण पूछो तो पांच मिनटमें ही पता चल जायेगा कि उसे यह आशा है इसलिये वह दु:खी है। इससे बढ़कर कोई दु:ख नहीं। स्वयंमें दृष्टि होनेपर कोई आशा नहीं रहती। इसलिये मैं स्वदृष्टिसे अपनेमें, अपने द्वारा, अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

आशा हो तो इन्द्र भी दुखी है। यहाँ तो एक स्त्रीके मारे नाकमें दम आ जाता है और वहाँ तो अनेकों देवाङ्गनाएँ रहती हैं। अकलंक स्वामी हुए, समन्तभद्राचार्य आदि हुए, यहाँ उन्होंने तपस्या की, ध्यान किया अन्तमें स्वर्गमें पहुँच कर समागम तो स्त्रियोंका ही मिला। परन्तु भैया ! वहाँ पहुँचकर भी वे विरक्त ही रह रहे होंगे और सावधान। अत: कल्याण पथके पथिक बनो, यहाँ पर भी आशा नष्ट हो गई है जिनकी, ऐसे साधु ही सुखी हैं। जब आशा नष्ट हो जाती

है सिद्धि होती है, क्योंकि उसके बाद अभिलाषाके योग्य कोइ चीज नहीं रहती है।

जब तक किसी पदार्थमें मूर्च्छा है निशल्यता नहीं। मूर्च्छामें दु:ख है। वैष्णवपुराणमें एक कथानक है कि नारद नरकमें देखनेके लिये गये तो क्या देखा कि वह ठसाठस भरा है। फिर स्वर्गमें गये वहाँ विष्णु भगवान् अकेले लेट रहे थे। उन्होंने कहा, 'भगवान् ! यह आपने क्या अन्याय कर रखा है कि स्वर्गमें किसीको भी नहीं लाते।' भगवान् ने कहा कि 'भैया ! स्वर्गमें कोई आना ही नहीं चाहता। अच्छा तुम्हें इजाजत है जिसे लाना चाहो ले आओ।' तो नारद चल दिये। बूढ़ोंसे पूछा, 'बाबा स्वर्ग चलोगे ?' जवानोंसे पूछा 'स्वर्ग चलोगे ?' बच्चोंसे पूछा, 'स्वर्ग चलोगे' परन्तु उत्तरमें केवल फटकार ही मिली, अंतमें एक भक्त बच्चेके पास पहुँचे और वही प्रश्न किया। उसने कहा, 'चलूँगा तो जरूर, परन्तु मेरी सगाई हो गयी है तनिक व्याह हो लेने दो।' व्याहके बाद उत्तर मिला कि स्त्री गर्भवती है जरा बच्चा हो लेने दो। गरज यह कि कई बार आये परन्तु कुछ न कुछ बहाना ही सुनना ही पड़ा। अंतमें निराश होकर भगवान्के पास गये और कहा, 'महाराज आपकी बात सत्य है, यहाँ कोई आना ही नहीं चाहता।' स्वर्गमें तो जब जाये जब कोई अच्छे काम करना चाहे, संसारमें तो कोई मोह, राग, द्वेष, मूर्च्छाको छोड़ना नहीं चाहता चाहे मर भले ही जाये। कोई यह नहीं सोचता कि

इन परपदार्थोंका मोह छोड़कर आत्म-साधनोंमें तो समय लगावे । बस इसी लिये आज सभी दुःखी हैं। यदि इस नैराश्य अमृतका पान करें तो सुखका अनुभव हो । भाई ! आशा करते-करते तो अनन्तकाल बीत गया अब तो इस नैराश्यमय ज्ञानके अनुभवीकी चटाचटी लगाना ही उत्तम है।

(१२)
गुणस्थान चर्चा
[दिनांक २०-१२-१९५२]

दर्शन, ज्ञान, चरित्र और योग—ये चार चीजें हैं। इन में से दर्शन, चारित्र और योगके कारण गुणस्थान बनते हैं ज्ञानके कारण गुणस्थान नहीं होते, क्योंकि ज्ञान एक रूप रहता है, उसमें विविधता नहीं होती। ज्ञानका काम तो प्रतिभास करना है। ज्ञान उल्टा नहीं होता। हाँ, कल्पनासे, रागसे उल्टा हो जाता है। ज्ञानमें विकार नहीं होता, ज्ञान का काम तो जानना है। ज्ञानावरणी कर्मके कारण ज्ञान और अधिक हो जाता है, पर ज्ञान मिथ्याज्ञान नहीं होता। इनका मिथ्यापन ज्ञानकी गड़बड़ी के कारण नहीं होता, पर विपरीत अभिप्रायके कारण होता है।

आत्मामें जो दर्शन, चरित्र और योग होता है गुण-स्थानोंमें उन्हींका वर्णन चलेगा। दर्शनका अर्थ है श्रद्धा, जैसा पदार्थ है वैसा ही श्रद्धान होना। चरित्रके मायने जैसा

आत्माका स्वभाव है उसके अनुकूल प्रवर्त्तन करना। आत्मा के प्रदेशका कम्पित होना योग कहलाता है।

जिन जीवोंका दर्शन मिथ्या है, परको निज मानते हैं, बाह्यमें ममत्व है, विभाव सुहाता है, यह मिथ्यादर्शन कह-लाता है। मिथ्यादृष्टि सब निम्न श्रेणीके जीव हैं। यह पहला गुणस्थान कहलाता है। मिथ्यात्व गुणस्थानमें अनंता-नन्त जीव हैं, जीव अनादिकालसे निगोदमें ही रह रहा है। कुछ समयके लिये निकलता है, फिर निगोदमें चला जाता है। सच्ची श्रद्धा एक बार भी हो जाय तो मोक्ष नियमसे होता है। यह बात दूसरी है कि वह बीचमें कुछ समयको विचलित हो जाये। वह सम्यग्दर्शन गुण जिसमें नहीं होता वह मिथ्यादृष्टि है। उसे धर्म नहीं रुचता, धर्मकी चर्चा ही कड़वी लगती है, आत्माके स्वभावकी बात नहीं सुहाती। परन्तु वही जीव अभ्यासके बलसे, कर्मके क्षय, उपशम या क्षयोपशमके कारण जैसी वस्तु है वैसा ही उसे श्रद्धान कर लेता है तब वह चौथा गुणस्थान कहलाता है। यह गुण-स्थान कर्मोंके दबनेसे क्षयसे अथवा कुछ दबने और कुछके क्षयसे होता है। गुणस्थानोंका विचार करते हुए आप ऐसी कल्पना ना करें कि मानों कोई सीढ़ी हो जिसके चौदह डंडे हों और जीव एक-एक डंडेपर क्रमसे चढ़ता हो। परन्तु आत्माके ही गुणोंकी परिणतिकी ओर दृष्टि दें। जहाँ पहले

गुणस्थानमें झूठा ही विश्वास करता था जब वह परिणति इस रूप हुई कि इसको सच्चा विश्वास हो गया तो ऐसा कह देते हैं कि चौथा गुणस्थान हो गया। यह एक निर्मल परिणाम है। जब सम्यग्दर्शन हो जाता है तब चौथा गुण-स्थान होता है।

जीव जब दर्शनमोह कर्मका बंध करता है तो मिथ्यात्व का करता है। यह मिथ्यात्व सम्यक्त्वको मलिन करनेवाला होता है। इसके तीन भेद हैं-(१) मिथ्यात्व, (२) सम्यक् मिथ्यात्व, (३) सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व। सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व कभी भी ये दो प्रकृतियाँ नहीं बंधती। बंधता तो मिथ्यात्व ही है। सम्यक्त्व होनेपर उसी मिथ्यात्वके तीन टुकड़े हो जाते हैं। मिथ्यात्वका कुछ भाग सम्यक् मिथ्यात्व हो जाता है और कुछ भाग सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्वमें चला जाता है। जैसे जब दालको दलते हैं तो कुछ मोटे टुकड़े हो जाते हैं और कुछ बारीक चूरा रह जाता है। जब श्रद्धा निर्मल होती है अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है तब इस प्रकार टुकड़े हो जाते हैं। कर्म पिंडके कुछ परिमाण सम्यक् मिथ्यात्व रूप हो जाते हैं और कुछ सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्वरूप।

अब इसके बाद जब यही परिणति कुछ सच्चा और कुछ कुछ सच्चा और कुछ झूठा विश्वास जैसी हो जाये तो तीसरा अथवा मिश्र गुणस्थान कह देते हैं। ढुलमुल दोनों विश्वास होना जिसमें कुछ सच्चा और कुछ झूठा विश्वास सम्मिलित

हो तो वह तीसरा मिश्र गुणस्थान कहलाता है और जब वह कुछ सच्चा विश्वास तो छूट जाता है और बिल्कुल मिथ्यात्वमें नहीं आता तो उस बीचकी अवस्थाको चाहे वह बहुत ही थोड़ी देरके लिये हो 'सासादन गुणस्थान' कहते हैं। सासादनका अर्थ है—आसादन सहित। अर्थात् सम्यक्त्वका तो अभाव हो गया और मिथ्यात्वमें अभी आया नहीं। जैसे एक पेड़से फल टूट तो गया, परन्तु अभी तक पृथ्वीपर नहीं आया। इसी प्रकार दूसरे गुणस्थानमें हालत होती है।

जब उसी जीवके कुछ ऐसे परिणाम हो जाते हैं कि मैं संकल्पी हिंसा न करूँ, स्थूल झूठ न बोलूं, स्थूल चोरी न करूँ, परिग्रह भी आवश्यकतानुसार कमसे कम रखूं और परस्त्रीका त्याग करके अपनी स्त्रीमें ही संतोष रखूं, पापों की निवृत्तिके अर्थ अपनी गमन करनेकी भी मर्यादा कर लूं अष्टमी व चतुर्दशी को उपवास करूँ, समयपर सामायिक करूँ, अतिथियोंको दान दूं, जिन कार्योंमें बेकार पाप लगता हो उनको न करूं, तब उनके परिणामोंके दर्जेको पांचवां गुणस्थान अथवा 'देशव्रत' गुणस्थान कहते हैं।

जब उनके परिणामोंमें और निर्मलता आती है तो वह सोचने लगता है कि मैं विरोधी, आरम्भी और औद्योगिक हिंसा भी क्यों करूं, सूक्ष्म झूठ भी क्यों बोलूं, सूक्ष्म चोरी ही क्यों करूं, कुछ भी परिग्रह ही क्यों रखूं पूर्ण ब्रह्मचर्यसे ही क्यों न रहूं किसी भी बातसे कोई प्रयोजन न

रखूं, केवल अपनी ही आत्माका ध्यान करूं, इन श्रेष्ठ वितर्कोंके बाद जो अलौकिक निर्विकल्पानुभव होता है तब उस अप्रमत्तभावको सातवां गुणस्थान कहने लगते हैं, परन्तु अधिक समय तक उपयोग केवल आत्मामें ही न रह सकनेके कारण उसको स्वाध्याय भी करना पड़ता है, उपदेश भी देना पड़ता है, भोजनके लिये भी जाना पड़ता है। जब उसकी ऐसी अवस्था हो जाती है तो उसीको छठा गुणस्थान या प्रमत्त गुणस्थान कह देते हैं। इस गुण स्थानमें महात्मा निर्ग्रन्थ दिगम्बर रहता है और आगे भी। उस महात्माके यदि कुछ आसक्तिवशात् अप्रमत्तभाव देर तक नहीं ठहरता तो प्रमत्तभाव भी देर तक नहीं ठहर पाता, क्योंकि उसके ज्ञानका बल विशाल है। इस तरह ये दोनों भाव (गुणस्थान) परिवर्तित होते रहते हैं।

इन संयत भावोंमें बार-बार अनवरत ज्ञानाभ्यासके कारण योगीके ऐसा ज्ञानबल प्रकट होता है जिससे इन परिणामोंसे भी उत्कृष्ट परिणाममें बढ़ना हो जाता है, इसे सातिशय अप्रमत्त कहते हैं। यह सातिशय अप्रमत्त भाव ऐसे अपूर्व परिणाम प्राप्त करता है जहाँ इस जीवकी वास्तविक वह नवीन स्थिति होती है। जहाँसे कर्मोंकी स्थितियोंका, अनुभाग (रस) का, कितनी ही कक्षाओंमें मूल से विनाश होने लगता है, उस समयके उन अपूर्व निर्मल परिणामोंको अपूर्वकरण गुणस्थान कहते हैं। इन अपूर्व परिणामोंके कारण योगियोंको वह स्थिति हो जाती है कि

जितने भी योगी एक साथ इन परिणामोंसे आगे बढ़ते हैं उन सबकी निर्मलता आदि एक सी रहती है। वहाँ मोहनीय कर्मकी सारी प्रकृतियां क्रम क्रमसे नष्ट हो जाती हैं, केवल एक सूक्ष्म लोभमात्र रह जाता है व सभी कर्मोंकी स्थिति अनुभाग विशेषतया क्षीण होने लगते हैं, अतिशय निर्जरण होने लगता है, इन परिणामोंको अनिवृत्तिकरण कहते हैं। जो सूक्ष्म लोभ शेष रह जाता है वह भी जहाँ नष्ट होने लगता है उन परिणामोंको सूक्ष्म-साम्पराय शुद्धिसंयम कहते हैं। इसके अन्तिम समयमें वह शेष सूक्ष्म लोभ भी नष्ट हो जाता है तब वह योगी क्षीणमोह (वीतराग) हो जाता है। भाइयो! इन गुणोंके स्थानोंकी चर्चाके समयमें भावोंपर ही विशेष ध्यान देकर विचारें। अपूर्वकरणसे सूक्ष्मसाम्परायशुद्धि सयमके परिणामों तकमें यह विशेषता है कि जो योगी मोहनीयका उपशम करके परिणामोंमें चढ़ते हैं वे तो उपशम करते हुए बढ़ते हैं तथा अन्तमें वे उपशान्तमोह हो जाते हैं। इसीलिये जब उपशान्त हुई कषाय उपशमन काल समाप्त होने पर उदयमें आती है तब परिणाम घटने लगते हैं, किन्तु जो योगी मोह प्रकृतियों का मूलसे नाश करके बढ़ते हैं वे क्षीणमोह हो जाते हैं। इन चर्चामें उपशान्तमोह ११वां गुणस्थान है और क्षीण मोह १२वां गुणस्थान है। देखो भैया! कल्याणके लिये सारा उद्यम यही करने योग्य सिद्ध है कि मोहको समूल नष्ट करें। बड़प्पन मोह बढ़ानेमें नहीं है, बड़प्पन मोहके

कम होनेसे, नाश होनेसे हैं। लोकव्यवहारमें भी देखो सरपंच किसे चुना जाता है जिसमें, मोह पक्ष, राग विरोध कमसे कम हों। हाँ तो वह योगी महात्मा मोक्ष मार्गका वीर सेनानी सकल कर्मोंके राजा—मोहनीयको मूलसे, नष्ट कर देने वाला, वीतराग, आत्मा, मोह तो समूल नष्ट ही कर चुका। अब और कर्म अधिक देर तक टिक ही नहीं सकते। तब होता क्या है ? सो सुनो भैया ! (यह सोनेका समय नहीं है जगनेका है) जैसे कि सब कर्मोंमें कठिन मोहनीय कर्म था, इसी तरह अब इनके शेषके सात कर्मों में जो आत्माके गुणोंपर आवरण व विघ्न करनेमें निमित्त हैं वे ३ कर्म ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय भी क्षीण हो जाते हैं। तब वह योगी अन्तरात्मासे परमात्मा हो जाता है। त्रिलोकके त्रिकालवर्ती सर्वपदार्थोंका ज्ञान परन्तु आकुलतासे रहित होता है, व अनंत सुखी निज ब्रह्म में मग्न प्रभु हो जाता है। यही सगुणब्रह्म है, साकार परमात्मा है, सकल व्यापक ज्ञानी है। जो भव्य इस स्वरूपका ध्यान करते हैं, वे सर्व दुःखोंसे रहित स्थितिका अनुभव करते हैं। ये प्रभु दर्शनीय हैं। इनका विहार भी, उपदेश भी भव्य जीवोंके पुण्यानुसार होता है। इन्हें सयोगीजिन कहते हैं, यह १३वां गुणस्थान है। जब इन परमात्माके योग (आत्माप्रदेश परिस्पंदन) नहीं रहता तब उन्हें अयोगीजिन कहते हैं। आयोगीजिन होते ही शीघ्र

शरीर रहित हो जाते हैं—ऊर्ध्वगमन स्वभावसे गति कर लोकके अन्तमें विराजमान हो जाते हैं। जिस शरीरसे मोक्ष गये उससे किंचित् न्यून परिमाण वाले क्षेत्रमें उनका वास है, परन्तु सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं। जीवकी उन्नतिमें चरमस्थिति यही है। योगिजनोंके उत्कृष्ट रूपातीत ध्यान में ये ही सिद्ध प्रभु विषय होते हैं याने योगी सत्पुरुष इनके निमित्तसे होनेवाली अनुकूल निर्विकल्प परिणतिके भोक्ता होते हैं।

भाइयो ! ये जो उन्नति स्थान कहे गये हैं, इनमेंसे आदिके चार गुणस्थान तो देव व नारकी तक भी पा लेते हैं, ५वां गुणस्थान मनवाले पशु पक्षी पा लेते हैं, परन्तु समस्त गुणस्थान व इनसे भी अतीत स्थिति (सिद्ध पर्याय) मनुष्य ही पा सकता है। मनुष्य उसीको कहते हैं जो हित कर सकने लायक मन पावे। पुरुष उसीको कहते हैं जो सच्चा पुरुषार्थ कर लेवे। यह मनुष्य पर्याय जिसके लिये भोगोपभोगके सुखी देव भी ज्ञानी हों तो तरसते हैं वह हम लोगों ने पाई। इतना ही नहीं सर्व समागम पाया, जिन-वाणी सुनने समझनेकी शक्ति पाई। सो भैया ! इस अवसरको व्यर्थ न खोने दें, सम्यग्दर्शन, ज्ञानचारित्रमें प्रवेश करें।

***

द्वादश अनुप्रेक्षा प्रवचन

[दिनांक २१-१२-१९५२]

इस दुःखमय संसारमें यह जीव अकेला ही जन्मता है और अकेला ही मरता है। गर्भमें देह धारण भी अकेला ही करता है। बालक भी अकेला ही होता, जवान भी, और वृद्ध भी अकेला ही होता है। सारांश यह है कि जितनी भी अवस्थायें होती हैं वह इस जीवकी अकेले ही होती हैं। यदि इसकी कोई भी अवस्था दूसरे किसीके साथ हो जावे तो वह भी मिट जावे और यह भी मिट जावे, क्योंकि ऐसी अवस्थामें दोनोंकी परिणति एक हो जायेगी, अकेला ही यह रोगी होता है। कोई भी इसके साथ मिलकर बूढ़ा नहीं होता और न ही मिलकर दुःख भोगता है। आप कहोगे कि निगोदिया जीव तो एक साथ मरते और पैदा होते हैं। पर नहीं भाई! यूं तो कवायद भी होती है। सब सिपाहियोंका एक साथ ही बायां पैर उठता है, एक साथ ही दायां और एक साथ ही सब क्रियायें करते हैं, परन्तु सब करते हैं अपनी-अपनी परिणति से ही। यह जीव अकेला ही नर्कोंके दुःख भोगता है, अकेला ही पुण्य कर्म करता, अकेला ही स्वर्ग जाता और अकेला ही कर्मोंका क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है। जब कोई बीमार हो जाता है तो कुटुम्बीजन तरह तरहसे उसे समझाते हैं धैर्य बंधाते हैं, परन्तु वे उसके दुःखके लेशको

भी ग्रहण करनेमें समर्थ हैं क्या? नहीं, कदापि नहीं। भैया! एक अनाथि मुनि थे। जंगलमें रह रहे थे। एक दिन नगरका राजा उस ओरसे निकला। उनका कृश, धूल से मैला शरीर देखकर करुणा करके पूछा—महाराज, आप कौन हैं? कृपया आप जंगलको छोड़कर मेरे साथ चलिये, वहाँ आपको सर्व प्रकारका आराम मिलेगा। मुनि बोले 'मैं अनाथ हूं।' राजाने उत्तर दिया, 'घबरानेकी बात नहीं, मुझे नाथ समझो।' साधुने कहा कि आप कौन हैं? राजा बोला, 'मैं राजा हूँ, अनेक मेरे नगर हैं, सुन्दर महल हैं, बगीचे हैं, दास दासियाँ हैं।' मुनि बोले, 'मेरे भी ये सब चीजें थीं। महल भी थे, बगीचे भी थे, दास दासियां भी थे।' राजाने प्रश्न किया, 'जब तुम्हारे पास सब कुछ था तो तुम अनाथ कैसे?' उन्होंने उत्तर दिया 'राजन्! एक दिन मेरे सिरमें दर्द हुआ, स्त्री भी सेवाके लिये खड़ी थी, पुत्र भी थे, सेवक लोग भी दौड़ धूप करते रहे, परन्तु मेरे सिर दर्दको कोई बांट व घटा न सका।' इसी तरह हमें भी यही विचार करना चाहिये कि हम सब ही अनाथ हैं, क्योंकि कोई भी हमारी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं है। निरन्तर व्याकुल होते रहते हैं। जिन चीजोंसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता वहाँ दिमागको जो लगाते रहते हैं, उनमें आत्माकी कोई भी भलाई नहीं होती। इसके विपरीत शरीरकी हानि व्यर्थमें होती रहती है। विकल्प बढ़ा रहे हैं और इसी कारण दुखी हो रहे है। आज तक भी कोई नाथ,

कोई रक्षक नहीं मिला। कदाचित् मित्रजन ढाढस बंधाने आते हैं, पर वहाँ भी पोलखाता है। वह करेंगे क्या? जब यहाँ ही कुछ पुण्य न रहेगा तो इतना कहने वाला भी कोई न मिलेगा। बड़े बड़े इतिहास देखनेसे पता चलता है कि बड़े बड़े लोग हुए, परन्तु जब पुण्य क्षीण हुआ तो मरते समय कोई रोने वाला भी दिखाई नहीं दिया। श्री कृष्णजी नारायण थे, परन्तु जब जन्म हुआ तो गीत गाने वाला कोई न था और जब मृत्यु हुई तो रोने वाला भी कोई न मिला। कोई किसीका नाथ नहीं। बहुत ढूंढा आज तक भी कोई नाथ, कोई रक्षक नहीं मिला। परमात्माको नाथ ढूंढने चले, परन्तु वहाँ पर भी परमात्म तत्व पर न पहुंच सकनेके कारण मूर्ति, उसका इतिहास, उसका कुल, उसका रंग, उनके माता पिता तक ही दृष्टि रही। इससे दृष्टि हटाई आगे बढ़े। परमात्मतत्वपर पहुंचे। वहाँ भाव जमा प्रार्थना करने लगे, 'नाथ बचाओ। जन्म मरणसे त्रस्त हुए, अशुद्धोपयोगमें रहते हुए इस अनाथको बचाओ।' परन्तु वे तो सुनते भी नहीं, इतनी उमर उन्हें सुनाते सुनाते हो गई। वे तो टससे मस भी नहीं होते। इच्छा ही नहीं है उनके, फिर हों कैसे? उन्मुख भी नहीं होते। कान लगाकर भी नहीं सुनते मेरी व्यथा। आंखोंसे भी नहीं देखते मेरी ओर। प्रार्थनाकी, 'कुछ तो दे दो।' पर वे दें कहांसे? उनके पास है भी क्या? उनके पास शरीर भी तो नहीं रहा। उनकी तो शुद्ध दशा हो गई। कुछ और आगे चले।

अच्छा अपने नाथके पास चलो। अपनेमें देखो, कहा 'छिपे हुए परमात्मा! तुम प्रकट होओ। बहुत जगह विकल्प किया, परपदार्थोंको अपने ज्ञानमें बसाया, ज्ञानको मलिन किया, ज्ञेय पदार्थों का क्या बिगड़ा? अब तो हे स्वभाव! विकासको प्राप्त होओ।' फिर नाथकी ओरसे उत्तर मिलता है, 'मैं तो प्रसन्न हूं, सदैवसे प्रसन्न हूं, अनादिकालसे बाट देख रहा हूं कि कब तुम मेरी ओर दृष्टि करो। मैं रूठा हुआ नहीं हूं तुझसे, मैं तो तुझे देख रहा हूं, पर तू मुझे नहीं देख रहा।' इसको दूसरे शब्दोंमें यूं कह लो—सामान्य विशेषसे कहता है, मेरी तो तेरे ऊपर दया ही है, मैं तो यही चाहता हूं कि तेरी दशा न बिगड़े। हे विशेष (भक्त)! देख तेरे प्रतिकूल चलनेमें मेरा भी तो विसंवाद हो रहा है। तेरे बिना मेरी कोई बात नहीं पूछता।' इस सबका सारांश यह निकला कि यदि यह जीव सामान्यपर दृष्टि लगावे, इसे अन्य कुछ नहीं सुहावे, कुछ नहीं रुचे, किसी भी पदार्थसे कुछ प्रयोजन न रखें, एक परमात्मतत्त्वकी ओर ही देखे तो सारे रोने बन्द हो जायें। अपने ही की ओर झुको। उसके बिना सारी परेशानी ही परेशानी है। अगर कोई दुःखमें फंस जाता है तो कोई भी कुटुम्बी उसको उस दुःखसे मुक्त नहीं कर सकता। औरकी तो बात जाने दो, माँ—ममतामयी माँकी गोदमें पड़ा हुआ बालक भी कालका ग्रास हो जाता है और मां उसको बचानेमें असमर्थ रहती है। कोई स्त्रीका वियोग नहीं चाहता, पर जब कर्मका इशा

प्रकारका उदय होता है उसकी मृत्यु हो ही जाती है, वियोग हो ही जाता है। किन्हीं-किन्हीं को ऐसा प्रेम होता है कि यहाँ तक कह देते हैं कि चाहे मेरी जान चली जाये पर ये बच जाये। पर भाई ! वे मोहमें ऐसा कह देते है, पर अपनी जान कोई दे नही सकता। अगर मान भी लिया जाये कि कोई अपनी जान दे भी दे, परन्तु उसकी जान देने से किसी दूसरेकी जान बच नहीं सकती। दुःखको कोई बांट नहीं सकता। यह जानता है परन्तु फिर भी परमें, स्त्री, पुत्र, मित्रमें ममत्व बुद्धि करता ही रहता है। कभी कभी तो ऐसा भी देखनेमें आता है कि मां ही अपने बच्चेको खा डालती है। जब प्रसूता कुतिया भूखी होती है तो अपने बच्चेको खा डालती है। सर्पिणी तो कुंडलीमें रहने वाले बच्चोंमेंसे किसीको भी नहीं छोड़ना चाहती। ऐसा साक्षात् जानता हुआ भी मैं ममता भावको नहीं छोड़ता। कितना अज्ञान है मुझे। अपना हितू तो अपना रक्षक तो दशलाक्षण धर्म है। क्षमा करे, विनय करे, नम्र रहे, मान न करे, लोभ न करे, कपट न करे, सभी कषाय न करे आत्मा शान्त है, सुखी है। यही कषाय रहित परिणाम हमारा सहाई है, हमारा रक्षक है।

हे भव्य जीवो ! यदि कल्याण चाहते हो तो अकेले इस जीवको सबसे भिन्न सब प्रकारसे प्रयत्न करके जानो। जिस प्रकार एक विद्यार्थीका ध्येय परीक्षा पास करना होता

है, इसके लिये वह स्कूल भी जाता है, घर पर भी पढ़ता है, ट्यूशन भी करता है, परचे भी मालूम करनेका प्रयत्न करता है और परीक्षाकी कापियां किसके पास गई हैं इसका पता लगानेसे भी वह नहीं चूकता। सारांश उसको यह धुन रहती है कि किसी प्रकार मैं परीक्षा पास कर लूं। इसी प्रकार यदि आत्मकल्याणकी भावना है तो आत्माका हित हो ही धुन रहे। इसके लिये ध्यान करूँ, स्वाध्याय करूँ, सत्सङ्ग करूँ, सबसे भिन्न केवल एक आत्माका अनुभव करूँ। एक मिनट तो अनुभव हो जाये उस आत्मतत्त्वका। संसारकी जो परिस्थिति है कही नहीं जाती। सबको भूल तो जाये एक बार। ज्ञानपुंज आत्माका अनुभव तो करे, जिसके जाननेपर सब 'पर' द्रव्य त्यागने योग्य हो जाते हैं। बच्चेसे कोई उसका खिलौना छीन ले तो वह रोने लगता है। उसे कोई तमाचा भी लगाये और दूसरा खिलौना भी दे फिर भी वह तो तब तक चुप नहीं होता जब तक उसे उसीका खिलौना न मिल जाये। इसी तरह यह छोड़ो, वह छोड़ो, सारे उपदेश दिये जाओ, परन्तु जब तक यह न बताया जायेगा कि छोड़नेके बाद किस चीजमें उपयोग लगायें (क्योंकि उपयोग तो कहीं न कहीं लगेगा ही) कुछ छूट नहीं सकता। अर्थात् जब तक आत्माका ज्ञान न हो कैसे छोड़ा जा सकता है 'पर' पदार्थोंको ? पुत्र, मित्र, स्त्रीका स्नेह छोड़ो—इसका नुस्खा है अपना खिलौना जान लो जिसमें रमते जाओ। अगले पैर रखनेके लिये तो जगह

का प्रबन्ध किया नहीं और पीछेसे पैर उठा दिये तो गिरेंगे ही। इसी प्रकार पर-रमण छुटाना चाहते और आत्मरमण की बात नहीं करते, कैसे काम बनेगा? परपदार्थ तो छूटा ही है। उसमें ममत्व न करो। यदि आत्मज्ञान न पाया तो घर भी छोड़ दो तो क्या, ममता तो अकेले बैठे भी हो सकती है। यदि आत्मरमणकी चीज मिले तो पररमण स्वयमेव ही छूट जायेगा। फिर भी मोटी-मोटी चीजें चाहे आत्मतत्त्व न समझा हो छोड़ ही देना चाहिये। जैसे मद्य, माँस, मधु, स्थूल हिंसा, स्थूल कुशील और स्थूल परिग्रह। इनका त्याग ही अष्टमूल गुण कहलाते हैं। इनका त्याग करनेके बाद यह धर्म सुननेका पात्र होता है, इसकी रुचि धर्मकी ओर होती है और फिर इसका कल्याण होता है।

आत्माके अकेलेपन पर विचार करो। आत्माके अलावा सर्व पर है। देह भी पर है। माता भी अन्य है। पुत्र, मित्र, कलत्र सब अपनेसे भिन्न हैं। इस प्रकार सब बाह्य वस्तुओं को अपनेसे भिन्न समझो। मोही जीव परपदार्थोंमें रुचि करता है, उनमें मग्न होता है यह उसकी मूर्खता है। ऐसी भावना भाना उसीको कल्याणकारी है जो देहको भिन्न जानकर आत्माकी सेवा करता है, आत्मामें अनुराग करता है, ज्ञाता द्रष्टा बननेका उत्साह होता है। व्यवहार धर्मका करना कठिन है। व्यवहारके साधन द्वारा व्यवहारसे मुक्ति पाकर निश्चयमें प्रवेश करो। एकत्व भावना भाना उसी

का है जो सबसे भिन्न आत्मामें रम जावे, जिसे भेद विज्ञान हो जावे, आत्माके अतिरिक्त जिसे कुछ न सुहावे। नहीं तो भैया! भगवानके सामने भी कह दिया कि 'जय वीतराग विज्ञान पूर, जय मोह तिमिरको हरण सूर' पर अपनेमें उमंग न हुई कि मैं भी तो अपने स्वभावका आलम्बन करूँ, मोहको हटाऊँ तो भगवान्के गुणगान करना वृथा ही है। दुनियांके गीत गा लिये, परन्तु अपनी समझमें न आया, सब बेकार है। एक गाँवके मुखिया थे। जब वह बाजारमें तरकारी खरीदने चले तो गाँव वालेने किसीने कहा—हमारा दो पैसेका साग लेते आना, किसीने कुछ मंगाया, किसीने कुछ। आप बाजारको चले सारा दिन दूसरोंके लिये चीजें खरीदनेमें समाप्त कर दिया। शामको अपनी भी होश आई। अपने लिए तरकारी ली। उस समय सड़ी-गली तरकारी ही मिली। वह लेकर घर आये। स्त्रीने फटकार बताई कि तमाम दिन तो खराब कर दिया और तरकारी लाये सड़ी-गली। सो भाई! पहले अपने आत्मतत्त्वपर दया करो, अपनेको सभालो, बादमें चाहे प्रवृत्ति करो। दूसरेका उपकार उसके पुण्यके आधीन है। सबसे प्रिय चीज खुद को खुद है। वह 'खुद' किस स्वभावयुक्त है इसकी पहिचान करो। उसीकी ओर लगो। एक लड़का खड़ा था। एक कौवा उसके कानके पाससे उड़कर गया। पासमें खड़े दूसरे लड़केने कहा, 'तेरा कान कौवा ले गया।' बस फिर क्या था? वह बालक कौवेके पीछे दौड़ने लगा। दौड़ते-दौड़ते

परेशान हो गया परन्तु कौआ हाथ नहीं आया। तब किसी सज्जनने समझाया कि भाई कौवेके पीछे क्यों दौड़ते हो? कौवा कान नहीं ले गया। वह बालक उत्तर देता है, कैसे नही ले गया, जब ये कह रहे हैं।' तब फिर वह सज्जन पुरुष समझाते हैं 'अरे मूर्ख! पहले अपने कान पर तो हाथ लगाकर देख कि कान वहाँ हैं भी या नहीं।' उनकी बात सुनकर उसकी समझमें आई। उसने कानपर हाथ लगाया तब उसे संतोष हुआ कि वास्तवमें कौवा कान नहीं ले गया है। इसी तरह हमारी दशा है। मोही हर किसीके बहकाये में आ जाते हैं। जो जहाँ आनंद बताता है वहीं दौड़ने लगाते हैं। किसीने कहा स्त्रीमें सुख है, उसी ओर चल दिये। किसीने कहा धन वैभवमें सुख है, बस धन कमानेमें ही दिन रात एक कर दी। सद्गुरु बहुत समझाते हैं, बार-बार कहते हैं कि 'ठहरो! कहाँ भाग रहे हो सुखके लिये? सुख वहाँ नहीं है'। हम इस पर कहते हैं, 'वहाँ सुख कैसे नहीं है? हमारे दादा बाबाने भी तो यही किया, हम भी यही कर रहे हैं। अगर इसमें सुख न होता तो हमारे बाबा दादा ही ऐसा क्यों करते? फिर गुरु करुणा करके समझाते है कि अरे अपनेमें तो देख, अगर तुझे वहाँ आनन्द न मिले तो इन पदार्थोंकी ओर दौड़ लगा लेना। फिर भी हम हैं कि उनकी बात मानते ही नहीं, जिसका फल हमारे सामने है कि हम महान् दुःखी हैं। लघु आत्मापर इतना भार है कि शरीर जैसा वह अपनेमें अनुभव करता है। स्वतन्त्र

एक अपनेका अनुभव किया जावे तो समस्त भार दूर हो जाये। एक आदमीको स्वप्न हुआ कि उसे २०००) रुपये की एक थैली मिल गई। अब वह स्वप्नमें ही उस थैली को जो कि २५ सेरकी थी कंधेपर रक्खे चला जा रहा है। इतने बोझके कारण उसका कंधा दुःखने लगा। जब उसकी आँख खुली तो उसका हाथ कंधेपर ही था और वह कंधेको ही दबा रहा था। कंधेमें दर्द वास्तवमें ही होने लगा था। जिस प्रकार उसे स्वप्न से जागनेपर थैली भी नहीं मिली और मुफ्तमें कंधेमें दर्द हो गया, इसी प्रकार परपदार्थोंमें आशा करने से परपदार्थ मिलते भी नहीं और मुफ्तमें हम दुःखी भी बने रहते हैं। एक बार तो सबसे ममत्व हटाकर ज्ञानपुञ्ज आत्माका अनुभव करें, उसमें ही सन्मार्ग प्राप्त होगा।

(१४)

"श्री सहजानन्द गीता" प्रवचन

[दिनाङ्क २३-२-१९५२]

को दृश्यं नश्वरं सर्वं दुःखमूलं पृथक् हि तत्।
निन्द्यं हेयमदस्तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥७॥१॥

जो कुछ भी यहाँ दिखनेमें आ रहा है वह सब विनाशीक है, सदैव रहने वाला नहीं है। जो-जो विनाशीक हैं वह सब दिखने में आ रहा है—ऐसी भी व्याप्ति नहीं है,

क्योंकि ऐसे भी अनेक पदार्थ हैं जो अदृश्य तो हैं, पर हैं विनाशीक। दृश्य पदार्थ आकुलताके निमित्त होते हैं। पर परदार्थ सदैव ही विभावका, क्लेशका निमित्त होता है, भलाईका नहीं। आप कहोगे यह बात तो सर्वथा ठीक नहीं कही जा सकती, क्यों ? देव, शास्त्र, गुरु तो भलाई करने में निमित्त होते हैं। परन्तु भैया ! जिस स्थितिमें देव, शास्त्र, गुरुका विकल्प है वह क्या पूर्ण भलाई रूप है ? नहीं ! अगर पूर्ण भलाई रूप ही होता तो फिर उस विकल्प को भी छोड़नेका उपदेश क्यों नहीं दिया जाता। सम्यक्त्व में भी परपदार्थ आश्रय नहीं है। सम्यग्ज्ञानकी चरम स्थिति में भी परपदार्थ निमित्त नहीं। पूर्ण चरित्रमें भी परपदार्थ निमित्त नहीं। शुद्धोपयोगकी दशामें किसी प्रकार भी विकल्प नहीं। शुद्धोपयोगमें क्या होता है ? बहुत बड़ा अशुभोपयोग था वह दूर हुआ, यह तो हुआ लाभ, परन्तु जो रागांश शेष हैं वह तो आकुलता ही है। शान्ति, सहज-सुख तो स्वाधीन है। उसमें किसी परपदार्थकी अपेक्षा नहीं, इसलिए दिखने वाले सब पदार्थ निन्द्य हैं बुरे हैं यह भी बात नहीं परपदार्थ निन्द्य या बुरे नहीं हैं, हम यहाँ बुरे अर्थात् हमारे अन्दर राग, द्वेष, मोह भरा पड़ा है अतः परपदार्थ बुरे दिखाई पड़ते हैं अगर हम बुरे न रहें अर्थात् हमारे अन्दर राग, द्वेष, मोह, न रहें तो कोई भी पदार्थ बुरा नहीं है। लोकमें कहते हैं कि स्त्री नरकका कारण है। पुत्र निगोदमें ले जाता है, परन्तु क्या यह बात सही है ? जब एक गृहस्थ वैरागी हो

जाता है, मुनि हो जाता है तो स्त्री, पुत्र जो मौजूद है, परन्तु वह किसी प्रकार उसको रागी, मोही बनानेमें समर्थ नहीं है जो कि नरक निगोदके मुख्य कारण बताये जाते हैं।

एक नालेको ही देखो। नाला अपवित्र है। उसमें कीड़ोंके शरीर सड़ रहे हैं। फिर बताओ नाला अपवित्र है या कीड़ोंके शरीर, जो उसमें सड़ रहे हैं। उत्तर यही होगा कि उन कीड़ोंके शरीर, ही अपवित्र हैं। अब विचारो शरीर बनाया किसने ? उनका वह शरीर कार्माण शरीरके कारण बना और कार्माण शरीर उनके किये हुए रागद्वेष, मोहके कारण बना। अतः सिद्ध हुआ कि हमारा रागद्वेष मोह भाव ही गन्दा है। औदारिक वर्गणाएं जो सब जगह मौजूद हैं वह तो शुद्ध ही हैं। जहाँ रागी, द्वेषी, मोही जीव ने उन्हें ग्रहण किया वे अशुद्ध बन गई अर्थात् मांस खून आदि बन गई। उनके ग्रहण करनेके पूर्व तो वह शुद्ध ही थी। ऐसा होते हुए भी हमारी दशा ऐसी है कि जिसने उन वर्गणाओंको अपवित्र बनाया, उससे तो अरुचि नहीं करते और अरुचि करते हैं और पदार्थोंमें मोह है अज्ञानरूप। मोहवश परपदार्थोंको अपनाते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि पदार्थोंको अपवित्र बनानेका कारण मोह हुआ। दूसरे शब्दों में हम उसे अपना अज्ञान भी कह सकते हैं। उस अज्ञानके कारण ही हम दुःखी हो रहे हैं। उसको तो अपनाये हुए हैं और जो बाह्य पदार्थ हैं जिनका मुझमें अत्यन्ताभाव है उनसे

ही ग्लानि करते हैं। भैया ! उस विभाव विषको निकालो बाहर फेंको।

जो पदार्थमें स्वयं होवे उसे भूतार्थ और जो पदार्थमें स्वयं न होवे उसे अभूतार्थ कहते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार यह स्थूलशरीर भी अभूतार्थ हुआ—यह कार्माण शरीर, ये राग, द्वेष, आदि मतिज्ञान आदिके अंश भी अभूतार्थ ही हैं और सूक्ष्मदृष्टिसे विचार करनेपर ज्ञात होता है कि केवलज्ञानकी पर्याय भी अभूतार्थ ही है क्योंकि वह भी स्वयं अनादिनिधन सामान्यकी तरह नहीं है। अगर स्वयं होता तो उसका आदि या आरम्भ नहीं हो सकता था। ये सब अभूतार्थ है। इन सबसे परे सामान्य तत्वकी श्रद्धा करने वाला ही सम्यग्दृष्टि है। 'विशेष रूप अथवा पर्यायरूप ही मैं हूँ' इस प्रकार विशेषपर दृष्टि रखने वाला, विशेषसे रुचि रखने वाला मिथ्यादृष्टि कहलाता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि विशेषकी ओरसे बिल्कुल उपेक्षा ही हो जाये। विशेषको उपादेय मानना हानिकारक है, उसका ज्ञान हानिकारक नहीं। हाँ, वह परिणाम हेय है, त्यागने योग्य है जो पदार्थके उन्मुख होता है। जो वीतराग है, पवित्र आत्मा है वह तो सदैव यह भावना रखता है कि मेरा विनाशीकमें अर्थात् पर्यायमें अथवा विशेषमें राग न हो। मेरी स्वयंमें रुचि हो उसकी तो सदैव भावना रहती है।

मेरी कोई भी शरण न हुआ, न है और न होगा। और बात तो छोड़ो यदि सिर दर्द भी हो जाये तो उसको लेश भी कम करनेमें कोई समर्थ नहीं। खुरईमें श्रीमत सेठ जी थे। उनकी जब तीसरी शादी हुई तो नवविवाहिताको पड़ौसकी स्त्रियोंने बतला दिया कि सेठ जी बड़े तेज मिजाज के हैं, जरा संभलकर सेवा करना। एक दिन हुआ सेठजीके सिरमें दर्द। उन्होंने स्त्रीको बुलानेके लिए नौकरको भेजा। स्त्री थी बड़ी चतुर। उसने यह सोचकर कि यह तो मंगलाचरण हैं सेठजीको कहला भेजा कि इस समय उसके पेटमें बहुत जोरसे दर्द है, अतः वह आ नहीं सकती। बस इतना सुनना था कि सेठ जी अपना सिर दर्द भूल गये और झट स्त्रीके पास उसका उपचार करानेका विकल्प लेकर आये। सो भैया देखो न, सब अपने दुःखसे दुःखी हैं, कोई भी किसी का सहाई नहीं होता। ये मेरे सहाई हैं, स्त्री रक्षा करने वाली है, पुत्र मुझे सुखी करते हैं, धन ही मेरा शरण है—यह सब भ्रम है। सुख और शान्ति तो इस भ्रमके दूर करने से ही होगी। अतः मैं शरणके भ्रमको हटाकर अपनेमें अपने द्वारा अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

जो कुछ भी मेरे अन्दर पैदा हो रहा है अगर तत्त्वदृष्टि से विचार किया जाये तो कोई भी परपदार्थ या परमात्मा मेरे अन्दरमें कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं है। हाँ इतनी बात अवश्य है कि हमारे ज्ञानबलकी अशक्तिके कारण परपदार्थमें उसमें जिसमें निमित्त हो जाते हैं। क्रोधीकी तो कुछ ऐसी परिणति हो जाती है कि क्रोध उसका स्वभाव

सा मालूम होने लगता है। वह जहाँ भी जाता है झट क्रोधित हो जाता है। क्षणमें ही क्रोधका निमित्त पैदा कर लेता है। यह ध्यान रखो क्रोध जब भी होगा परके ऊपर (विषयसे) ही होगा। परन्तु यह विचार करो कि तुम्हें क्रोधके पैदा होनेमें परका कोई अपराध नहीं। मूल कारण तो उसके ही ज्ञानबलकी कमजोरी है या दूसरे शब्दोंमें यह कह लीजियेगा कि अज्ञान ही उस क्रोधका मूल कारण है। कषाय दूर हो या न हो, परन्तु यह तो श्रद्धापूर्वक रटते रहो, यह भावना बनाए रखो कि ये सब जो मेरी आत्मा से अन्य हैं वे सब पर हैं—मैं तो अपने द्रव्यसे हूं परकेसे नहीं, अपने क्षेत्रसे हूं दूसरेके से नहीं, अपने काल अथवा परिणमन से हूँ परके से नहीं, अपने ही भावसे हूँ परके से नहीं। बस यही भावना तो कल्याणका मार्ग है। आत्मा विवेकी है। इस प्रकारकी भावना बार-बार भानेसे ऐसा समय अवश्य आ जायेगा कि कषाय समाप्त हो ही जायेगी। लोग कहते हैं कि यदि क्रोध होता है तो उसका उपाय है कि मुँहमें पानी भर लो अर्थात् बोलना बन्द कर दो। इसी प्रकार यदि कषाय दूर करना हो तो भेदविज्ञानके उपयोगसे परकी उन्मुखता बन्द कर दो, भेद भावनाका चिन्तवन करो। यही सोचो कि मेरा तो किसी परद्रव्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं। कोई भी किसीकी परिणतिका स्वामी नहीं। आदमी तो अपने ही भाव बना सकता है। न्याय ही ऐसा है।

युक्तिही नहीं अनुभवसे भी यही सिद्ध हो चुका है। पहले भवमें जहाँ मैं था वहाँ भी मरणके समय किसीने भी मुझे मरनेंसे न रोका। यहाँ पर भी, इस भवमें भी मैं अनेक बार असाध्य रोगोंसे पीड़ित हुआ, परन्तु कोई भी मेरे दुःखको किंचित् भी न बांट सका। बस, अब तो मैं परमतत्व को ही देख रहा हूं सामान्यतत्वपर ही मेरी दृष्टि है। मेरा कोई भी शरण नहीं, कोई भी रक्षक नहीं। इसका प्रमाण मेरा स्वयंका अब तक का अनुभव ही है। अतः मेरा तो अब यह ही कर्तव्य है कि परमें शरणके भ्रमको दूर कर स्वयं ही में शरणबुद्धि करके अपनेमें अपने द्वारा अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

जब हमारी परमें शरण बुद्धि है तब ही तो आगेका व्यवहार चलता है। लोग कहते हैं कि स्त्री, पुत्र वगैरहके बिना गुजारा नहीं। परन्तु भैया! जब पड़ती है गुजारा हो ही जाता है। क्या कालका आना बन्द हो जायगा? क्या किसी पदार्थका परिणमन बन्द हो जायगा? नहीं! आँखोंके सामने देखते हैं सबके गुजारे होते हैं। जिनके सारा परिवार है उनका जब मरणकाल होता है तब क्या मृत्यु से छुटकारा मिल जाता है? स्त्री, पुत्र आदिके होते भी मृत्युके मुखमें प्रवेश करना ही पड़ता है। वास्तवमें परपदार्थसे आत्माका क्या गुजारा? परन्तु हाँ गुजारा हो सकता है कैसे? आत्मदृष्टि करो। सोचो जो होगा अच्छा

हो होगा, अब जो हो रहा है अच्छा ही हो रहा है। विपत्ति आ रही है, समझो कि जो पूर्व में कर्म बंधन किया था यही कर्म अब दुःख देकर निर्जराको प्राप्त हो रहे हैं। स्वात्मदृष्टिक तो नरक विपत्ति में भी भलाईके लिये है। दृष्टि ही अच्छी है, हितकारी है। स्वरूपदृष्टि न हो तो दुःख ही है। यदि लोभ ही हो तो स्वदृष्टि का ही लोभ हो। एक पद्य में लिखा है 'लोभी लोभ त्याग कर देहु'। यदि परिवार का लोभ है तो परजनके लोभ का त्याग करके धर्मात्माओंका लोभ करो। इसका अर्थ यह हुआ कि धर्मात्माओंकी संगतिका ही ध्यान रखो। इसी तरह उस पद्य में बहुतसे लोभोंके विषयमें लिखा है कि कीर्तिका लोभ है तो ऐसा करो कि रागी विरागी दोनोंमें व्यापक हो आदि। खैर, लोभ तो करो कोई हानि नहीं, पर शैली बदल दो, फिर लोभ ही न रहेगा। अहो, जब मैं सबसे पृथक् हूं तब मैं कर्तापनकी मदिरा पीकर बेहोश क्यों होऊँ। उसको फैंककर अपने में अपने द्वारा अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ। **

(१५)

"धर्म का मूल"

[दिनाङ्क २-३-१९५३]

धर्म क्या है? यह समझनेके लिये सर्वप्रथम तीन बातों का ज्ञान होना आवश्यक है-(१) द्रव्य, (२) गुण, (३)

पर्याय। इन तीनोंका ज्ञान धर्ममें प्रवेश करानेके लिये मुख्य द्वार है या यूं कह लो कि धर्म यदि धारण करना है तो इनको हृदयङ्गम करना ही पड़ेगा। आप कहोगे कि मेंढ़कोंने भी यही कवायत होगी-भाई नहींकी होगी, परन्तु इस द्रव्य गुण पर्यायका राज अपने एक चित् प्रतिभासके लक्ष्यसे समझा ही होगा। खैर, द्रव्य तो कहते हैं अखण्ड पिण्ड एक सत्को और जो द्रव्य होता है वह परिणमे बिना रहता नहीं सो जितने भी परिणमन हैं वे पर्याय कहलाते हैं। अब वस्तुमें जितने प्रकारके परिणमन ज्ञात हों वस्तुमें उतनी ही शक्ति होती है। शक्तिको गुण कहते हैं। इस प्रकार द्रव्य में अनन्तगुण होते हैं, हम आप तो थोड़ासा ही जान पाते हैं। अब यहाँ सरल उपायसे ऐसा चाहो कि बात त्रैकालिक नहीं है कुछ समयके लिये है, वह तो पर्याय है, कार्य कहो-परिणति कहो एक ही बात है और जो त्रैकालिक है उसमें फिर यह बतावेंगे कि कौन द्रव्य है कौन गुण है? अच्छा तो अब जो भी कोई पूछे कि यह क्या है तो सबसे पहले यह विचारो कि क्या यह त्रिकाल रहने वाला है? यदि वह त्रिकाल रहने वाला नहीं तो और कुछ विचार करनेकी आवश्यकता नहीं। झटसे कह दो कि वह पर्याय है। यह घड़ी क्या है? विचारो क्या यह घड़ी इसी रूपसे त्रिकाल रह सकती है? नहीं, अतः यह पर्याय हुई। इसी प्रकार यह मनुष्य है तो इसमें मनुष्य क्या हुआ? मनुष्य त्रिकाल न रहनेके कारण पर्याय ही है। इसी प्रकार चौकी, लाल-

टैन आदि भी हैं। फूलकी सुगंध क्या है ? सदैव न रहनेके कारण आप झट कहदोगे कि यह भी पर्याय है। उसमे जरा और सूक्ष्मदृष्टिसे विचारो। जो आत्ममें राग, द्वेष, मोह आदि उत्पन्न होते हैं वे द्रव्य हैं, गुण हैं अथवा पर्याय हैं ? झट आपने विचारा कि ऐसा भी होता है किसी समय कि ये राग, द्वेष, मोह नहीं रहते तो इसका सीधासादा उत्तर यही होगा कि ये भी पर्याय हैं।

पहिले यह कहा था कि जितने भी पर्याय परिणमन-कार्य होते हैं द्रव्यमें उतनी ही शक्तियाँ हैं। शक्तिका नाम गुण है। तो अब यह विचारो कि कौनसी पर्याय किस गुण की है ? साथ ही यह भी सोचो कि किस द्रव्यमें है ? कुछ पर्यायें ऐसी भी होती हैं जो प्रत्येक प्रदेशकी आकृति आदि रूप होती हैं सो जो गुणकी पर्याय है वह तो अर्थ पर्याय कहलाती है तथा जो द्रव्यके प्रदेशोंको अवस्था है वह व्यंजन पर्याय है एवं जो प्रदेशोंमें भी परिणमन नहीं, गुणों में भी परिणमन नहीं, किन्तु न द्रव्योंके संयोग वियोग आदिमें कुछ कहा जाता है वह द्रव्यपर्याय है। हाँ तो यह पर्याय है इसके साथ यह भी सोचना चाहिये कि आखिर यह किसकी पर्याय है ? या तो यह किसी गुणकी पर्याय है या किसी द्रव्यकी पर्याय है। गुण और द्रव्य दोनों ही त्रिकाल रहने वाले हैं। इनको समझानेके लिये यह नुस्खा है कि द्रव्य तो केवल छः ही होते हैं—(१) जीव, (२) पुद्गल. (३) धर्म, (४) अधर्म (५) आकाश और (६) काल।

(पुद्गलसे यहाँ स्कंध नहीं लेना, परमाणु समझना)। जिस की वह पर्याय है यदि वह इन ६ में से है तो झट कह दो कि यह द्रव्य है (क्योंकि जीव आदिमें से एक है) अथवा यदि वह इन ६ में से नहीं है, और है त्रिकाल रहने वाला तो सोचो कि यह गुण है, और यदि कुछ समयकी रहने वाली बात है तो यह किसी न किसी गुणकी पर्याय है। देखो ! द्रव्य और गुणमें अन्तर क्या है ? रहते तो दोनों त्रैकालिक हैं, परन्तु समस्तगुणोंका अखण्डपिण्ड तो द्रव्य है और वे समस्त व्यस्तरूपसे देखो, प्रत्येक गुण हैं।

अब ये तीन बातें तो सहज ही मालूम हो जायेंगी। जरा कठिन जाननेकी बात केवल इतनी ही रह गई कि आखिर यह किस गुणकी पर्याय है। गुण हर द्रव्यमें अनेक होते हैं। बस इनको जरा ठीक प्रकारसे सोचना पड़ेगा। घड़ी पर्याय है। अब विचारो कि यह किसकी पर्याय है। पुद्गलकी व्यंजन पर्याय है—समान-जातीय द्रव्य पर्याय है क्योंकि एक ही बिरादरी के परमाणुवोंके संयोगसे यह बनती है। मनुष्य पर्याय किसकी हुई ? जीव पुद्गलकी असमान जातीय द्रव्य पर्याय है क्योंकि भिन्न जातिके जीव और पुद्गलोंके संयोगसे वह व्यक्ति है। फूलमें सुगन्ध है यह भी पर्याय है। यह पुद्गलमें एक गंधनाम का गुण है जो सदैव रहता है यह उसही की पर्याय है। मनुष्यका मृतक शरीर असमानजातीय द्रव्यपर्याय नहीं कहलाता, वह तो पुद्गल पुद्गलोंकी समान जातीय पर्याय है। जैसे कि यह चौकी

है, जब इसका काष्ठ वृक्षमें था—संचित था तबतो यह असामनजातीय पर्याय थी परन्तु अब तो यह असमानजातीय पर्याय नहीं है। हाँ यह बात अवश्य है कि जीवके सम्बन्ध बिना यह मूर्ति नहीं हो सकती थी तब ऐसा कहलो कि चौकी है वह वनस्पतिकायरूप पर्याय है। यह ढ़ेला पृथ्वीकायरूप पर्याय है। वायु जो चलती है वायुकायरूप पर्याय और ओस पड़ती है वह जलकायरूप पर्याय है। अब राग, द्वेष, मोहको देखो। ये किसकी पर्याय हैं। आत्मामें एक चरित्र गुण होता है ये उसकी पर्यायें हैं परन्तु हैं ये पर्यायें विभाव पर्यायें। हमने लालटैन जानी यह ज्ञान है, यह क्या है ? इस प्रकारका ज्ञान त्रिकाल न रहनेके कारण यह भी पर्याय है और यह पर्याय है आत्मामें रहने वाले ज्ञान गुण की।

अब आगे चलिये। हमने हाथसे पीछी उठाई। दिखने में तो यही कहा जायेगा कि हाथने पीछी उठाई। परन्तु जरा विचार करो कि क्या वास्तवमें हाथ ने पीछी उठाई। नहीं। हाथने तो अपनेमें ही परिणमन किया और पीछी ने पीछोमें ही। हाँ, हाथकी कुछ इस रूप पर्याय हो गई कि पीछी उसके संयोगमें है तब उसके निमित्तसे पीछी भी चली। किसी द्रव्यकी किसी भी गुणकी पर्याय जो होती है वह उस ही द्रव्यके प्रदेशोंमें होती है। हाथकी कुछ भी अवस्था पीछीमें कैसे आ जावेगी। पीछीमें जो क्रिया है वह इसकी क्रियावती शक्तिका परिणमन है। हाथ जो चला वह

इसकी क्रियावती शक्तिका परिणमन है। दोनोंका एक समयमें २ परिणमन है, फिर भी निमित्तकी ओरसे देखो तो निमित्त प्रेरक तो हाथ ही हुआ और पीछीकी क्रिया नैमित्तिक हुई। जो प्रेरक होता है उसे कहते हैं कर्त्ता, और जिसमें वह प्रेरणा निमित्त होती है वह कहलाता है कर्म। जैसे आत्मामें रागद्वेष उत्पन्न हुए और कर्म आये तो इसमें कर्म तो हुए आश्रव्य और रागद्वेष हुए आश्रवक। वह कर्म बंध गये, इसमें कर्म तो हुआ वन्ध्य और जिसके कारणसे ये कर्म बंधे यानी रागद्वेष आदि वे हुए बन्धक। बन्धकका अर्थ है बांधने वाला और बन्ध्यका अर्थ है बंधने योग्य। इसी प्रकार कर्म रुके अर्थात् संवर हुआ, तो इसमें भी समिति, गुप्ति आदि तो हुए संवारक जिनके कारण भावोंमें निर्मलता आने से कर्मोंका आश्रव रुक गया और इसमें कर्म हुए संवार्य। इसी प्रकार कर्मोंकी निर्जरामें मुख्य पड़ने वाले कारण अर्थात् शुद्धोपयोग आदि तो हुए निर्जरक और कर्म हुए निर्जय। यहाँ ये युगल पर्यायें बताई। इनका प्रदेशोंमें जोड़ करो तब आप जान ही गये होगे कि कर्मकी आश्रव, संवर, बंध निर्जरा आदि व्यवस्था तो कर्मवर्गणामें ही हुई और विशुद्ध, अशुद्ध अवस्था जीवमें हुई। देखो भैया ! वास्तवमें परखकर सोचो, दो क्रियाका कर्त्ता एक तो न हुआ। ओह ! इस एक क्षेत्रावगाही तकमें तो यह हालत है तब लोगोंको ऐसा सोचते हुए कि "मैं धन कमाता हूँ, पुत्र पालता हूँ" संकोच भी नहीं होता, यह सब अज्ञानका महात्म्य हैं।

अच्छा अब इस बात पर ध्यान दो—लो ये हाथने पीछी उठाई। इस कार्यमें कितनी क्रियायें हुई ? (१) आत्मामें श्रद्धा हुई कि इस प्रकार हाथकी क्रिया करनेसे पोछी उठ जायेगी, (२) आत्मामें इस प्रकारका ज्ञान भो हुआ कि इस प्रकार करनेसे पीछी उठ रही (३) आत्मामें इच्छा हुई यह उसका हुआ चारित्र (विभाव) (४) आत्मामें एक योग शक्ति है जिसके कारणसे वह निज प्रदेशपरिस्पदरूप क्रिया बनी (५) और यह क्रिया जो आपको दिख रही है वह पुद्गलमें ही हुई। विचारो कि ये प्रथमकी चार चीजें तो आत्मामें हुईं और पांचवी चीज यानी यह क्रिया हुई आत्मा से भिन्न परद्रव्यमें। अज्ञानी तो वहाँ यह भी देखता "मैंने पीछी उठाई, मैंने इसे सुखी किया, मैंने इसे दुखा किया"। ज्ञानी प्रत्येक कार्यको उसके आधारभूत द्रव्यमें ही थोपता अन्य पदार्थमें नहीं। झगड़े तो इसी ममत्व बुद्धिके बढ़ रहे, संसार भी तो कर्तृत्वबुद्धिसे है। अज्ञानी के यह समझ ही नहीं बैठती कि "होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम"। इससे धर्म क्या निकला ? हम कोई भी क्रिया करें उसका कुछ भी परद्रव्यमें नहीं जाता और न परपदार्थ का कुछ भी हमारी आत्मामें आता। इस प्रकार सोचने वाला ज्ञानी मनुष्य परपदार्थों का परिणमन चाहे जिस रूपसे हो वह उससे रागद्वेष नहीं करता, परन्तु अपने यथास्वयंभूत स्वभावके लक्ष्यसे रहता है। इस प्रकार ज्ञानी पुरुष न यह विचार करेगा कि मैं किसीको सुखी दुःखी

करता हूँ और न वह यह विचार करेगा कि कोई मुझे सुखी दुखी करता है वह तो सदैव यह ही ध्यान रखेगा कि पर-पदार्थमें होने वाली पर्याय मुझे सामान्यत्व यानी आत्मामें कुछ भी सुधार बिगाड़ नहीं करती।

अब जरा और गहरेमें चलो। देखो ! जो ये एक-क्षेत्रावगाही जीव व कर्म है इनकी अवस्थायें तो आप जान ही गये कि जीवमें यह परिणाम तो पुण्य, पाप, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा मोक्ष है। और कर्ममें ऐसे परिणमन उसका पुण्य, पाप, आश्रव, बंध, स्वर, निर्जरा मोक्ष है। अब इनमें से किसीको भी भूतार्थसे विचारो अर्थात् वे अवस्थाये जिस सामान्यमें हुई उस सामान्यके लक्ष्यपर बल देकर विचारो तो यह पर्यायें उस बुद्धिमें स्थान न पाकर विलीन हो लेंगी तब कर्म सामान्य तत्व या जीवसामान्यतत्वकी स्थापना होगी। तदनंतर सर्वसामान्य बुद्धिगत होने पर अर्थात् 'पुद्गल' ऐसा नहीं, 'जीव है' ऐसा नहीं, किन्तु 'है' यह प्रतिभास होनेपर केवल आत्माकी ख्याति रह जावेगी वह भी 'मैं हूँ' इस विकल्पसे भी अतीत होकर। यही सम्यग्दर्शन में स्वका अनुभव है।

भैया समझे ! द्रव्य गुणपर्यायोंका यथार्थ ज्ञान करनेमें क्या धर्म आया ? सबकी परिणति उन उनहीके द्रव्य गुणों में होती है मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। 'पर्यायोंका आधारभूत सामान्यतत्व यह है' ऐसा बोध होते ही आत्मामें दो पुरुषार्थ

हुये–(१) परद्रव्यगुण पर्यायोंसे निवृत, और (२) सामान्य की उन्मुखता (यही धर्म है) यही मोक्षमार्ग है।

अच्छा भैया ! इस समयके मामलेको तो देखो। मैं बोल रहा हूं किसके लिये ? समझमें तो प्रायः यह आ जावेगा कि श्रोताओं के लिये बोल रहे और आप सुन रहे हैं सो किसके लिए ? बोल दो झट, वक्ताके लिये (तुम्हारे लिये) सुन रहे हैं। पर नहीं भाई, ऐसा नहीं है। हम बोल रहे हैं तो अपनी शान्तिके लिये, चेष्टाके लिये, आप सुन रहे हैं तो अपने लिए शान्तिके लिये। आपके प्रदेशोंमें, गुणोंमें आप कुछ कर सकते ? नहीं। हमारे प्रदेशोंमें, गुणोंमें आप कुछ कर सकते ? नहीं। क्यों ? क्योंकि बिल्कुल भिन्न-हम आप हैं। तब सम्बन्ध छोड़ो यही तो धर्म है।

पर्यायोंसे निरूपण शुरू करके क्रमशः अन्तरंग अंतरंग पर पहुंचिये। अन्तमें 'सतु' स्वसहाय निर्विकल्पविषयक उपयोग रह जावेगा। इसी मर्मको तो कितने ही सिद्धांत-निर्मातावोंने विशेष निरपेक्ष होकर एकत्व भिन्न-भिन्न शब्दोंमें माना है।

भाई ! अन्तमें कहाँ पहुँचना है इसका लक्ष्य हो जाना सबसे बड़ी कमाई है। इसीको हो अंगीकार करो। अन्य कुछ मत अपनावो। रागद्वेष न करो। यही सुखका मार्ग है।

**

गहरी खोज के बाद......

"सुख"

मिला यहां.....

इस श्रद्धा में :—

१. मेरी चेष्टाका फल मुझमें होता है अन्यमें नहीं । बाह्य पदार्थमें हम कुछ नहीं कर सकते, केवल अपने ज्ञानमें ही कर सकते हैं व करते है ।

२. मैं अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे हूँ, परके से नहीं ।

३. मैं एक हूँ, अद्वैत हूँ, शुद्ध हूँ, चैतन्यस्वरूप वाला हूं, स्वतन्त्र हूँ पर-पदार्थ से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है । आत्मा का अकेलापन विचारू। देह भी पर है ।

४. किसी आत्माका किसी आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं, रागका रागसे सम्बन्ध है ।

५. मैं तो अकिञ्चन हूँ मेरा कुछ नहीं है ।

६. मुझे परेशान करने वाले, दु.खी करने वाले कोई वाह्य चेतन अचेसन पदार्थ नहीं है ।

७. मेरी जितनी भी अवस्थायें हैं उनमें ले जाने वाला मैं ही तो हूं, अतः मैं ही अपना गुरु, अपना नेता हूँ ।

८. अपवे ही भावोंसे अपना कुछ होता है ।

९. एक वस्तुका दूसरी वस्तुसे कोई सम्बन्ध नहीं । सम्बन्ध निषेधके अतिरिक्त शांति का कोई उपाय नहीं ।

१०. ज्ञान न तो ज्ञेयको कुछ करता ही है और न उसको भोगता ही हैं।

११. मैं अनाथ हूँ, कोई भी मेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं।

१२. पहले अपने आत्मतत्व पर दया करूं, अपनेको संभालूं, बादमें चाहे जो प्रवृत्ति करूं।

१३. औरकी तो बात जाने दो, ममतामयी मांकी गोदमें पड़ा हुआ बालक भी कालका ग्रास हो जाता है और मां उसको बचाने में असमर्थ होती है।

१४. दुःख 'यह मेरी है या वह मेरी थी' इस विकल्पमें है, पदार्थ में नहीं। वस्तुसे मोह हटालो तो उसको न पाने अथवा खोनेका दुख नहीं होगा।

१५. तृष्णाके बढ़ावमें दुःख है और घटावमें सुख। इच्छासे चिन्ता उत्पन्न होती है और जहां चिन्ता हुई क्लेश अनिवार्य है।

१६. जैसे-जैसे विषयाशा बढ़ती जाती है, बंधन भी बढ़ता जाता है। जितना कम सम्बन्ध होगा उतनी ही कम चिन्ता होगी।

१७. असन्तोष ही दरिद्रता है। संग्रह करने से सुख नहीं। सुख तो आशा का अभाव है। जब आशा नष्ट हो जाती है तभी सिद्धि होती है।

१८. किसीसे कुछ न चाहे (यहां तक की मोक्ष भी नहीं) क्योंकि मोक्ष जैसी दुष्प्राप्य वस्तु भी तो अपनी आत्मामें बसे हुए परमात्माकी कृपासे ही प्राप्त होगी।

१९. सुखके अर्थ परपदार्थकी प्रतीक्षा करना सुख की हत्या करनी है। परपदार्थोंमें आशा करनेसे परपदार्थ मिलते भी नहीं और मुफ्तमें हम दुःखी भी बने रहते है।

२०. अपनी इच्छाके विपरीत परिस्थिति उपस्थित होने पर भी मैं शान्त बना रहूं। क्रोधके कारण मिलनेपर शांति रखना ही शांति है।

२१. शांतिका आधार तो इच्छा का अभाव है।

२२. मैं संसारमें तो बसूँ (नहीं तो जाऊँ भी कहाँ) परन्तु संसारको अपने में न बसाऊँ।

२३. यह विषयभोग बड़े सरल दिखते हैं, पर बड़े महंगे पड़ेंगे।

२४. अन्तर्दृष्टि करूं तो तत्त्व मिले. बाह्यदृष्टि होनेपर तो दुःख ही मिलेगा।

२५. शांति तो तत्वमें ही है। तत्व–अर्थात् ऐसा ज्ञान होना जिसमें राग द्वेषका लेश भी न हो।

२६. 'स्व' का एकपन, एकाकीपन ही मंगल हैं, वही आत्मा की रक्षा करने के लिये दुर्ग है।

२७. अपने स्वभाव की और ढला हुआ स्वरूप ही मेरा शरण है।

२८. यदि ज्ञानमें उपयोग हो जाये तो फिर बाह्यमें कुछ ही होता रहे, मेरा कुछ बिगाड़ नहीं कर सकता।

२९. भगवान् आंखोंसे नहीं दीखता, परन्तु राग, द्वेष, मोह के अभावमें आत्मानुभव होनेपर परमात्मा अनुभव हो जाता है ।

३०. मैं तो ज्ञाता दृष्टा स्वरूप हूँ, अजन्मा हूँ, अमर हूँ, बस मेरी तो यही स्थिति हो कि मैं केवल ज्ञानमय आत्मा तो रहूं, पर औरकुछ न रहे ।

३१. स्वभाव विकासका कारण तो निज मग्नता ही है ।

३२. जानने मात्रकी दशामें अर्थात् ज्ञानदशामें दुःख नहीं ।

३३. जिस रूप जो पदार्थ परिणमता है परिमणने दूं । मोही बनकर क्लेशको प्राप्त मत होऊँ । सदैव अपनी आत्मा में ही रत रहूँ ।

३४. स्वास्थ्य अर्थात् 'स्व' में स्थितिके बिना निर्मलता नहीं आ सकती, कल्याण नहीं हो सकता ।

३५. चारों ओर घूमने वाले अपने उपयोगको यदि सब ओरसे खींचकर आत्मामें केन्द्रित कर दूं तो मैं (आत्मा) इतना चमत्कृत हो जाऊँगा कि कर्मोंको जलाकर एक दिन परमात्मा अवश्य बन जाऊँगा ।

३६. जगतको बात छोड़ूं, अपनेको ही अपने अनुकूल बनाऊँ । अपना लोटा छानूँ, जगतका कुंआ छाननेसे कोई लाभ नहीं ।

३७. आशा करते-करते तो अनन्तकाल बीत गया, अब तो इस नैराश्यमय ज्ञानके अनुभवकीही चटाचटी लगाऊँ ।

३८. मैं सामान्यपर ही दृष्टि लगाऊँ, मुझे कुछ न सुहावे, कुछ न रुचे, किसी भी पदार्थसे कुछ प्रयोजन न रखूँ, एक परमात्मतत्वका ही लक्ष्य करूँ ।

३९. संसारकी जो परिस्थिति है कहीं नहीं जाती ! सबको एक बार भुलाकर ज्ञानपुञ्ज आत्माका तो अनुभव हो ।

४०. यदि आत्मरमणकी वस्तु मिले तो पर-रमण स्वयमेव ही छूट जायेगा । बस यह समझ लूँ कि सब कुछ छोड़नेके बाद किसमें उपयोग लगाऊँ ? क्योंकि उपयोग कहीं न कहीं लगेगा ही ।

४१. सुख तो अपनेमें ही है, बाह्यमें ढूंढना व्यर्थ है ।

४२. जहाँ आशा और प्रतीक्षा होती है वहाँ त्याग नहीं । यदि आत्म कल्याणकी भावना है तो आत्माका हित हो यही धुन रहे ।

४३ जीवनके अर्थ हैं–निराकुलता होना, बेफिक्री होना, सतोष होना, आत्मस्थिरता होना ।

४४. जो परिस्थिति इस समय मेरी है उसमें ही सन्तुष्ट रहूं । यदि ऐसा नहीं है तो भविष्यमें होने वाली स्थिति में तो सन्तोष होना असम्भव ही है ।

४५. अपनी आत्मामें उत्साह रखना, बल रखना, जैसी भी परिस्थिति हो प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार व सहन कर लेना–यही सुख और शांतिका मार्ग हैं ।

४६. मैं ऐसा बल प्राप्त करूँ कि जो संयोग व जो सम्पत्ति, वैभव प्राप्त हुआ है उसमें मेरा ममकार अर्थात् ये मेरे हैं ऐसी कल्पना ही न हो।

४७. राग, द्वेष, मोहरहित परिणाम होना यही महान यज्ञ है, यही पूजा है, यही स्वाध्याय है।

४८. ठगा जाना बुरा नहीं ठगना बुरा है।

४९. अपनी करतूतसे अरुचि हो जाये, बस यही करना है और कुछ नहीं।

५०. दुःख उपस्थित होनेपर भी ज्ञानसे मेरे उपयोगकी च्युति न होवे।

५१. बड़प्पन मोह बढ़ानेमें नहीं हैं। बड़प्पन तो मोहके कम होने नाश होनेसे है।

५२. सुख तो ज्ञान और त्यागका फल हैं।

५३. परमात्माकी उपासना करनेका अर्थ है अपनी आत्मा की उपासना करना।

५४. व्यवहारके साधन द्वारा व्यवहारसे मुक्ति पाकर निश्चयमें प्रवेश करूँ।

उपर्युक्त श्रद्धाके बल पर ही मैं अपने द्वारा, अपनेमें, अपने लिये स्वयं सुखी होऊँगा।

—मूलचन्द जैन